07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 171

सिनेमा, साहित्य और इतिहास : प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन और सिनेमा की सामाजिकता

शुभनीत कौशिक

पिछले कुछ दशकों में इतिहासकारों ने भारतीय संदर्भ में साहित्य और इतिहास के अंतर-संबंधों और उससे प्राप्त होने वाली अंतर्दृष्टियों पर नए सिरे से विचार किया है। साहित्य और इतिहास की इस गहन पड़ताल ने सामाजिक इतिहास की हमारी समझ को न केवल पहले से समृद्ध किया है, बल्कि इतिहास और अतीत की बनी-बनाई धारणाओं को तोड़ा भी है। साहित्य और इतिहास के इस अंतर्गुंफित इतिहास में अगर हम सिनेमा को भी जोड़ लें, तो अतीत की एक बेहतर और अधिक समृद्ध तस्वीर उभर कर हमारे सामने आती है। इस लेख में मैं सिनेमा, साहित्य और इतिहास की इसी त्रिवेणी के सहारे बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक के भारत में आकार लेती सामाजिकता के विविध आयामों की बात करूँगा। इस क्रम में हिंदी के दो महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों प्रेमचंद और राहुल सांकृत्यायन का सिनेमा संबंधी लेखन मेरे विश्लेषण का आधार होगा।

फ़िल्म और सामाजिक इतिहास

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में इतिहासकारों ने सामाजिक इतिहास को उसकी समग्रता में समझने के लिए दृश्य संस्कृति के अध्ययन पर ज़ोर दिया। उल्लेखनीय है कि दृश्य संस्कृति के विभिन्न आयामों के विश्लेषण से सामाजिक इतिहास के संदर्भ में हमें न केवल गहरी अंतर्दृष्टि मिलती है,

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 172

बल्कि दृश्यात्मक स्रोतों का इस्तेमाल करते हुए हम ऐतिहासिक अध्ययन की विषयवस्तु और उसके फ़लक़ को और समृद्ध कर पाते हैं। कुछ इतिहासकारों ने जन-स्मृति और इतिहास की सामाजिक प्रासंगिकता के हवाले से भी दृश्य संस्कृति के अध्ययन के महत्त्व को रेखांकित किया है। इतिहासकार अनिरुद्ध देशपांडे के अनुसार, सिनेमा और दृश्य संस्कृति के ऐतिहासिक अध्ययन के ज़रिए जन-इतिहास ('पब्लिक हिस्ट्री') और अकादमिक इतिहास की दूरी को भी कम किया जा सकता है।[1] अगर हम आम दर्शकों पर सिनेमा के प्रभाव को ध्यान में रखें तो बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक विमर्श और इतिहास से जुड़ी आम समझ के निर्माण में फ़िल्मों और फ़िल्म-निर्माताओं की भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता। कला फ़िल्मों और समानांतर सिनेमा के साथ ही धीरे-धीरे इतिहासकारों और फ़िल्म अध्येताओं ने लोकप्रिय फ़िल्मों, फ़िल्म पत्रिकाओं और अख़बारों में छपने वाली फ़िल्म समीक्षाओं को भी अपने अध्ययन के दायरे में लिया। अकारण नहीं कि ज्योतिका विर्दी लिखती हैं कि 'लोकप्रिय हिंदी सिनेमा भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक राजनीति का एक मोहक वृत्तांत प्रस्तुत करता है।'[2]

फ़िल्मों को उनके ऐतिहासिक संदर्भ में समझने के क्रम में यह ज़रूरी हो जाता है कि हम फ़िल्म और उस समाज के अंतर्संबंध को समझें, जिसमें फ़िल्में बनाई और देखी जा रही होती हैं। फ़िल्मों को इतिहास के स्रोत के रूप में बरतने के लिए यह भी ज़रूरी है कि हम उन सामाजिक प्रक्रियाओं को समझें, जो फ़िल्म-निर्माण में अहम भूमिका निभाती हैं। इतिहासकार मार्क फेरो लिखते हैं कि 'इतिहास के उत्पाद और एजेंट के रूप में, फ़िल्में और फ़िल्मों की दुनिया अपने दर्शक वर्ग, पूँजी और राज्य के साथ जटिल अंतर्संबंध स्थापित करती है और संबंधों का यह आयाम फ़िल्मों के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण धुरी होता है।'[3] मार्क फेरो के अनुसार, फ़िल्मों का सामाजिक अध्ययन करते हुए हमें उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को समझने की कोशिश भी करनी चाहिए, जिससे गुज़रकर फ़िल्म-निर्माताओं ने अपनी कला को वैधता प्रदान की और वे इसे कला-स्वरूप के तौर पर स्वीकार्यता दिलाने में सफल हुए।

प्रेमचंद और सिनेमा

प्रेमचंद और सिनेमा की बाबत जब भी बात होती है, वह अक्सर प्रेमचंद के सिनेमा उद्योग से जुड़े कड़वे अनुभवों तक ही सीमित होकर रह जाती है। ज़ाहिर है कि ऐसे में प्रेमचंद का सिनेमा संबंधी वह लेखन हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है, जो *हंस* और *जागरण* सरीखे पत्रों में प्रेमचंद के संपादकीय लेखों में समाहित है। इन लेखों को पढ़ते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचंद सिनेमा को एक ऐसे सशक्त माध्यम के रूप में देखते थे, जो देश के निरक्षर लोगों को जागरूक बनाने और उनके बीच आधुनिक विचारों के प्रचार-प्रसार में प्रभावी ढंग से इस्तेमाल हो सकता था।

---

[1] अनिरुद्ध देशपांडे (2004) : 4455-59.

[2] ज्योतिका विर्दी (2003) : 1.

[3] मार्क फ़ेरो (1983) : 358.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 173

1930 के दशक में जब प्रेमचंद बंबई फ़िल्म उद्योग से लगभग एक साल के लिए जुड़े, तो उनका अनुभव काफ़ी बुरा रहा। उनसे पहले भी हिंदी के प्रसिद्ध लेखक सुदर्शन जनवरी 1933 में एक फ़िल्म कंपनी के लिए छह सौ रुपये माहवार पर काम करने लगे थे।[4] वर्ष 1933 में ही 'महालक्ष्मी सिनेटोन' ने प्रेमचंद के उपन्यास *सेवासदन* पर फ़िल्म बनाने का अधिकार माँगा और इसके बदले में उन्हें 750 रुपये देने की पेशकश की। प्रेमचंद के कुछ मित्रों ने उन्हें फ़िल्म कंपनी को अपनी कृतियों पर फ़िल्म बनाने का अधिकार न देने का सुझाव दिया। लेकिन आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण उन्होंने इस प्रस्ताव को अपनी रज़ामंदी दे दी। इसके कुछ समय बाद ही बंबई की एक अन्य फ़िल्म कंपनी 'अजंता सिनेटोन' ने प्रेमचंद को फ़िल्मों में पटकथा लेखन के लिए बंबई आने का प्रस्ताव दिया। उक्त कंपनी ने प्रेमचंद से एक अनुबंध करने की बात रखी, जिसमें उन्हें एक साल के लिए आठ हज़ार रुपये दिए जाने थे।[5] यह उस समय के हिसाब से एक अच्छी-ख़ासी रक़म थी। *हंस* और *जागरण* के प्रकाशन में आर्थिक कठिनाइयाँ आड़े आ रही थीं। प्रेमचंद ने इन दोनों पत्रों का प्रकाशन साहित्य व विचारों के प्रचार-प्रसार के साथ ही आय के स्थायी स्रोत के रूप में भी किया था। लेकिन इन पत्रों से मुनाफ़ा होना तो दूर, प्रेस और उपन्यासों से प्रेमचंद को होने वाली आय भी इनके प्रकाशन में ही ख़र्च होने लगी थी।

इन वित्तीय कठिनाइयों से निजात पाने और अपनी आर्थिक स्थिति को देखते हुए प्रेमचंद ने अजंता सिनेटोन के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी देवी ने भी अपने शुरुआती विरोध के बाद प्रेमचंद को बंबई जाने और फ़िल्म कंपनी से जुड़ने की अनुमति दे दी। शिवरानी देवी से प्रेमचंद ने कहा था कि उनके उपन्यासों और कहानियों की पहुँच शिक्षित समाज तक है, लेकिन फ़िल्म उनके विचारों को जन-जन तक पहुँचाने और उसे सार्वभौम बनाने का काम करेगी। प्रेमचंद ने उनसे कहा, 'अपनी आत्मा की शांति के लिए जो कुछ लिखता हूँ, उसको तादाद में जितने ही लोग ज़्यादा समझ सकें, देख सकें, पढ़ सकें उतनी ही मुझे ज़्यादा शांति मिलेगी। और उसके बाद दूसरा फ़ायदा यह होगा कि *हंस* और *जागरण* को चलाने के लिए मैं ज़्यादा रुपया दे सकूँगा।'[6] *हंस* और *जागरण* की स्थिति ख़ुद शिवरानी देवी से भी छिपी नहीं थी। बच्चों की आगे की पढ़ाई के लिए भी पैसे की ज़रूरत थी। आख़िरकार वे तैयार हो गईं और प्रेमचंद ने अकेले बंबई जाने और वहाँ अपनी क़िस्मत आज़माने का फ़ैसला लिया।

1 जून, 1934 को प्रेमचंद बंबई पहुँचे। ग़ौरतलब है कि इस समय तक सविनय अवज्ञा आंदोलन के दूसरे चरण को भी भारतीय राष्ट्रीय कॉन्ग्रेस ने आधिकारिक तौर पर समाप्त कर

---

[4] वर्ष 1896 में सियालकोट में जन्मे कहानीकार सुदर्शन का फ़िल्म उद्योग से जुड़ाव लंबा रहा. उन्होंने 1935 में बनी फ़िल्म *धूप छाँव* से लेकर *सिकंदर, पृथ्वी वल्लभ, मशाल, पड़ोसी, दुश्मन, परख* और *झाँसी की रानी* जैसी फ़िल्मों की पटकथा लिखी.

[5] अजंता सिनेटोन की स्थापना मोहन दयाराम भवनानी (1903-1962) ने की थी. प्रेमचंद ने भवनानी के लिए *मज़दूर* फ़िल्म की पटकथा लिखी. बाद में, मोहन भवनानी ने भवनानी प्रोडक्शंस की भी स्थापना की, राजाध्यक्ष व विलमेन 1998 : 65.

[6] शिवरानी देवी (1944) : 231.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 174

दिया था, जोकि वर्ष 1933 से ही कमज़ोर पड़ने लगा था। कुछ इसी राजनीतिक माहौल में प्रेमचंद ने बंबई में पटकथा लेखन का काम शुरू किया, जो आरंभ में उन्हें ठीक भी लगा। जुलाई 1934 में जैनेंद्र कुमार को लिखे एक ख़त में प्रेमचंद ने जैनेंद्र से भी बंबई आने और फ़िल्मों के लिए लिखने का आग्रह किया। यही सुझाव प्रेमचंद ने कानपुर के अपने मित्र और *ज़माना* के संपादक दयानारायण निगम को भी दिया। पटकथा लेखन के संदर्भ में प्रेमचंद ने जैनेंद्र कुमार को लिखा कि फ़िल्म के लिए ऐसी कहानियों की माँग है, जिनका फ़िल्मांकन आसानी से किया जा सके और जिनमें भूमिका निभाने में अदाकारों को भी सहूलियत हो।[7]

अजंता सिनेटोन के लिए प्रेमचंद ने जो पहली कहानी लिखी वह श्रमिकों और मिल मालिकों के बीच संघर्ष पर आधारित थी। प्रेमचंद ने गांधीवादी नज़रिये से इस टकराव को फ़िल्म की कहानी में सुलझाने की कोशिश की थी। निर्देशकों की माँग पर फ़िल्म की पटकथा का उन्होंने हिंदी से उर्दू में अनुवाद किया। *मज़दूर (द मिल)* नामक इस फ़िल्म में प्रेमचंद ने पंच का एक छोटा सा किरदार भी निभाया था। आशीष राजाध्यक्ष और पॉल विलमेन ने इस फ़िल्म को भारत के श्रमिक वर्ग की परिस्थिति के पहले यथार्थवादी चित्रणों में से एक माना है। बंबई के कपड़ा मिलों में ही *मज़दूर* का फ़िल्मांकन भी हुआ था। उल्लेखनीय है कि बंबई समेत देश के प्रमुख औद्योगिक शहरों में बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों से ही मिल मज़दूरों द्वारा अपनी माँगों को लेकर हड़तालें की जा रही थीं। ख़ुद बंबई में वर्ष 1919 से 1940 के बीच कपड़ा मिल के मज़दूरों द्वारा आठ बड़ी हड़तालें की गईं। इनमें से सारी हड़तालें लगभग महीने भर तक चलीं, जबकि 1928-29 के दौरान हुई हड़ताल साल भर तक चली थी।[8]

मज़दूर फ़िल्म की कहानी एक उदार मिल मालिक की मृत्यु से शुरू होती है। उसकी मृत्यु के बाद उसके व्यवसाय का ज़िम्मा उसकी बेटी पद्मा और बेटा विनोद उठाते हैं। विनोद के शोषक रवैये के विरुद्ध पद्मा अपने साथी कैलाश के साथ मिलकर श्रमिकों की हड़ताल का नेतृत्व करती है। विनोद हिंसक हो उठता है, उसे जेल होती है और मिल बंद हो जाती है। बाद में पद्मा फिर से व्यापार शुरू करती है और उदारवादी रवैया अख़्तियार करती है। साथ ही वह कैलाश से विवाह कर लेती है।[9]

फ़िल्म का निर्माण तो हो गया लेकिन सेंसर बोर्ड ने फ़िल्म को प्रमाणपत्र जारी करने में अवरोध खड़े कर दिए। मिल मालिकों के दबाव में, जिनमें से एक सेंसर बोर्ड का सदस्य भी था, यह फ़िल्म पहले बंबई प्रेसीडेंसी में प्रतिबंधित हुई। लाहौर में यह फ़िल्म कुछ दिनों के लिए प्रदर्शित हुई, किंतु पंजाब सरकार ने इसे प्रतिबंधित कर दिया। बाद में दिल्ली, संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत में भी यह फ़िल्म प्रतिबंधित कर दी गई। यह फ़िल्म व्यावसायिक रूप से असफल रही और अजंता सिनेटोन को इससे काफ़ी आर्थिक नुक़सान भी उठाना पड़ा।

---

[7] मदन गोपाल (1964) : 390.

[8] राजनारायण चंदावरकर (1994).

[9] आशीष राजाध्यक्ष व पॉल विल्लेमन (1998) : 259.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 175

उल्लेखनीय है कि बंबई फ़िल्म सेंसर बोर्ड द्वारा फ़िल्म निरीक्षकों (इंस्पेक्टर) को जो निर्देश दिए गए थे, उनमें ऐसी फ़िल्मों को आपत्तिजनक और प्रतिबंधित करने योग्य बताया गया था, जो सामाजिक असंतोष या विद्रोह को बढ़ावा देती हों। इनमें ऐसी फ़िल्में भी शामिल थीं 'जिनमें पूँजीपतियों और श्रमिकों के बीच वास्तविक टकराव की हिंसक परिणति दिखाई गई हो।' उक्त निर्देशिका में जिन विषयों को आपत्तिजनक माना गया था, उनमें राजनीति के विवादित मुद्दे, श्रमिकों और पूँजीपतियों के बीच संबंध तो शामिल थे ही, साथ ही भारत से संबंधित उन फ़िल्मों को भी आपत्तिजनक माना गया था जिनमें ब्रिटिश या भारतीय अधिकारियों को सकारात्मक ढंग से न दिखाया गया हो।[10]

फ़िल्म सेंसरशिप और फ़िल्मों के प्रदर्शन पर नियंत्रण के तत्कालीन प्रावधान सिनेमेटोग्राफ़ एक्ट, 1918 के अंतर्गत लागू किए गए थे। वर्ष 1919 में इस क़ानून में कुछ संशोधन भी हुए थे। ध्यान देने योग्य है कि फ़िल्मों के प्रदर्शन और सेंसरशिप का विषय प्रांतों के अधीन था। इसी क़ानून के अनुरूप वर्ष 1920 में बंबई, कलकत्ता, मद्रास, रंगून और पंजाब में सेंसर बोर्ड की स्थापना हुई। इस क़ानून के अंतर्गत ज़िलाधिकारी और पुलिस आयुक्त को यह अधिकार था कि वह किसी फ़िल्म के प्रमाणपत्र को निरस्त कर सकता था, जिसके लिए प्रांतीय सरकार की स्वीकृति भी ज़रूरी थी। बंबई सेंसर बोर्ड में पुलिस आयुक्त और राजस्व कलेक्टर के साथ-साथ भारतीय शिक्षा सेवा का एक सदस्य होता था और साथ ही बंबई प्रेसीडेंसी के तीन प्रमुख समुदायों (हिंदू, मुस्लिम और पारसी) का एक-एक प्रतिनिधि भी।[11]

प्रेमचंद की लिखी कहानी पर बनी इस फ़िल्म का जो हश्र हुआ, वह ब्रिटिश भारत में सेंसरशिप, औपनिवेशिक राज्य और उद्योगपतियों के गठजोड़ की भी गवाही देता है। इसी समय महालक्ष्मी सिनेटोन ने भी प्रेमचंद के उपन्यास *सेवासदन* पर फ़िल्म बना दी थी, जिसका निर्देशन ननुभाई वकील ने किया था। हालाँकि इस फ़िल्म ने प्रेमचंद को निराश ही किया।[12]

---

[10] *रिपोर्ट ऑफ़ द इंडियन सिनेमेटोग्राफ़ कमिटी, 1927-1928* : 214-15.

[11] 1927 में गठित सिनेमेटोग्राफ़ कमिटी ने प्रांतों में अलग-अलग सेंसर बोर्ड की व्यवस्था की जगह पूरे ब्रिटिश भारत के लिए एक केंद्रीय सेंसर बोर्ड की वकालत की थी, *रिपोर्ट ऑफ़ द इंडियन सिनेमेटोग्राफ़ कमिटी :* 105-130.

[12] प्रेमचंद की जीवनी लिखने वाले मदन गोपाल लिखते हैं कि *सेवासदन* (*बाज़ार-ए-हुस्न*) उपन्यास पर आधारित तमिल फ़िल्म सफल रही थी और उसमें प्रख्यात गायिका एम. सुब्बुलक्ष्मी ने मुख्य भूमिका निभाई थी. 1938 में बनी इस तमिल फ़िल्म का निर्देशन के. सुब्रमण्यम ने किया था.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 176

इसी दौरान प्रेमचंद ने अजंता सिनेटोन के लिए ही एक और कहानी लिखी, जिसका शीर्षक था 'नवजीवन'। लेकिन इस कहानी का भी वही हश्र हुआ, जो *मज़दूर (द मिल)* और दूसरी पटकथाओं का हुआ। जैनेंद्र कुमार को बंबई से लिखे अपने कई पत्रों में प्रेमचंद ने फ़िल्म उद्योग और निर्माता-निर्देशकों के रवैये पर आपत्ति जताते हुए लिखा था कि 'यहाँ फ़िल्म उद्योग में निर्माता-निर्देशक ही सब कुछ है। लेखक क़लम का कितना ही धनी क्यों न हो, यह फ़िल्म जगत निर्देशक का अपना साम्राज्य है। जहाँ लेखक की सुनने वाला कोई नहीं। वह यहाँ इसी शर्त पर बना रह सकता है, जब वह निर्माता की संप्रभुता को स्वीकार करे।'[13] प्रेमचंद ने इसी पत्र में यह भी लिखा कि निर्माता-निर्देशक ही यहाँ सब कुछ तय करते हैं। वे मानते हैं कि उनका काम जनता की रुचियों का परिष्कार करना नहीं, बल्कि उसकी हर अच्छी-बुरी माँग को पूरा करना है। भाषा की दिक़्क़तों की बाबत प्रेमचंद ने आगे जोड़ा कि फ़िल्म निर्माता-निर्देशक न ठीक से हिंदी जानते हैं और न ही उर्दू। उन्हें पटकथा समझाने के लिए अंग्रेज़ी की मदद लेनी पड़ती है। प्रेमचंद ने लिखा कि उन्हें पटकथा लेखन के काम से आत्म-संतुष्टि नहीं मिल रही है।

इसी दौरान अजंता सिनेटोन ने प्रेमचंद को एक साल के लिए इंग्लैंड भेजने का भी प्रस्ताव रखा। वहाँ से लौटने के बाद कंपनी ने उन्हें पाँच फ़िल्मों की कहानियाँ लिखने के एवज़ में प्रतिवर्ष दस हज़ार रुपये देने का प्रस्ताव रखा था। हालाँकि प्रेमचंद ने अपने ख़राब स्वास्थ्य का हवाला देकर इस प्रस्ताव पर अपनी असहमति जता दी। जब शिवरानी देवी से प्रेमचंद ने इस संदर्भ में बात की, तब उन्होंने भी इससे साफ़ मना कर दिया था।[14] इसी दौरान जैनेंद्र को लिखे एक ख़त में अपनी मनोदशा को व्यक्त करते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि मैं जिन इरादों से आया था, उनमें एक भी पूरा होता नज़र नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आए हैं, उस लीक से जौ भर नहीं हट सकते। वल्गैरिटी को यह एंटरटेनमेंट वैल्यू कहते हैं। अद्भुत में ही इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मंत्रियों के षड्यंत्र, नक़ली लड़ाई, बोसेबाजी, ये ही उनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे। लेकिन उनको फ़िल्म करते इन लोगों को संदेह होता है कि चले या न चले। (जी चाहता है) यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूँ। वहाँ धन नहीं, मगर संतोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है, जीवन नष्ट कर रहा हूँ।[15]

बंबई के अपने एकाकी जीवन का विवरण देते हुए प्रेमचंद ने जैनेंद्र को लिखा था, 'मेरा जीवन यहाँ भी वैसा ही है जैसा काशी में था। न किसी से दोस्ती न किसी से मुलाक़ात। मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक। स्टूडियो गए, घर आए। हिंदी के दो-चार प्रेमी कभी-कभी आ जाते हैं। बस।' 4 जून, 1934 को शिवरानी देवी को लिखे एक पत्र में प्रेमचंद ने इसी संदर्भ में लिखा कि 'तुम्हारे पास तो सभी होंगे, भाई-बन्द, लड़के-लड़की सभी हैं और मुझे तो तुम लोगों के

---

[13] मदन गोपाल (1964) : 391.

[14] शिवरानी देवी (1944) : 271-72.

[15] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 20 (1996) : 27-28.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 177

बिना इतनी बड़ी बंबई होते हुए भी सूनी ही मालूम होती है। यही बार-बार इच्छा होती है कि छोड़-छाड़कर भाग खड़ा होऊँ।'[16]

इस दौरान अजंता सिनेटोन की आर्थिक स्थिति भी ख़राब होने लगी। इससे जुड़े कई नामचीन और अनुभवी अदाकारों ने कंपनी से अपने अनुबंध ख़त्म कर दिए। अंततः प्रेमचंद ने भी फ़िल्मी दुनिया को अलविदा कह बनारस लौटना ही उचित समझा। मदन गोपाल लिखते हैं कि बॉम्बे टाकीज़ के हिमांशु राय ने प्रेमचंद को एक प्रस्ताव दिया था, लेकिन प्रेमचंद ने अब और अधिक दिन बंबई में ठहरना मुनासिब नहीं समझा।[17]

बंबई जाने से पूर्व सिनेमा पर प्रेमचंद के विचार

अगस्त 1932 में प्रेमचंद ने *हंस* में एक संपादकीय लिखकर उन समाचार पत्रों की ख़बर ली थी, जो सिनेमा की अभिनेत्रियों से जुड़ी सनसनीख़ेज़ और मसालेदार ख़बरें प्रकाशित करने से बाज़ नहीं आते थे। दिलचस्प है कि इस लेख को पढ़ते हुए ख़ुद प्रेमचंद में भी हम 'पवित्र' और 'दूषित' वाले द्वैध को स्पष्ट देख सकते हैं। इस लेख में उन्होंने सिनेमा की अभिनेत्रियों के जीवन को 'घृणास्पद' माना और उन्हें लड़कियों को बरगलाने वाली स्त्री के रूप में देखा। प्रेमचंद ने लिखा कि 'भारत में भी अंग्रेज़ी पत्रों की देखा-देखी इस तरह की मनोवृत्ति बढ़ती जाती है। जिन स्त्रियों का जीवन इतना घृणास्पद है कि कोई भला आदमी अपनी लड़की को उनके साथ एक मिनट के लिए भी छोड़ना पसंद न करेगा वही स्त्री सिनेमा में एक्ट्रेस बनते ही देवी बना दी जाती है और हरेक पत्र में उसके चित्र छपते हैं, उसकी प्रशंसा की जाती है और यदि वह अपने जीवन के सनसनी पैदा करने वाले वृत्तांत लिखे, तो उसे बड़े हर्ष से प्रकाशित किया जाता है।'[18] अख़बारों के कर्त्तव्य की याद दिलाते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि उन्हें जनता में सनसनी फैलाने या लोगों की मनोवृत्ति को दूषित करने की बजाए स्वस्थ और निष्कलंक सुरुचि उत्पन्न करनी चाहिए। बक़ौल प्रेमचंद : 'हमें गुण का आदर करना चाहिए चाहे वह कबीर के शब्दों में कितने ही 'अपावन ठौर' में क्यों न मिले, लेकिन अर्धनग्न स्त्रियों के निर्लज्जतापूर्ण चित्र खींचकर जनता में कुत्सित भावनाओं को उत्तेजित करना अथवा उनके लज्जास्पद चरित्र वर्णन करके पाठकों में कुवासना को जगाना भारतीय आदर्श के विरुद्ध है।'[19]

प्रेमचंद अभिनेत्रियों के जीवन को घृणापूर्ण और चरित्र को लज्जास्पद मान रहे थे। इस संदर्भ में, फ़िल्म अध्येता इरा भास्कर का वह लेख उल्लेखनीय है जिसमें वे तीस से पचास के दशक में बनी हिंदी फ़िल्मों में नायिकाओं की बदलती छवियों और उनके गहरे निहितार्थों का

[16] शिवरानी देवी (1944) : 237.

[17] मदन गोपाल (1964) : 399.

[18] हिंदी फ़िल्मों में स्त्री की पवित्रता संबंधी छवियों की निर्मिति और दुश्चरित्र महिलाओं (वैम्प) जैसी रूढ़ियों की पड़ताल के लिए देखें कसबेकर (2001).

[19] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 8 : 121.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 178

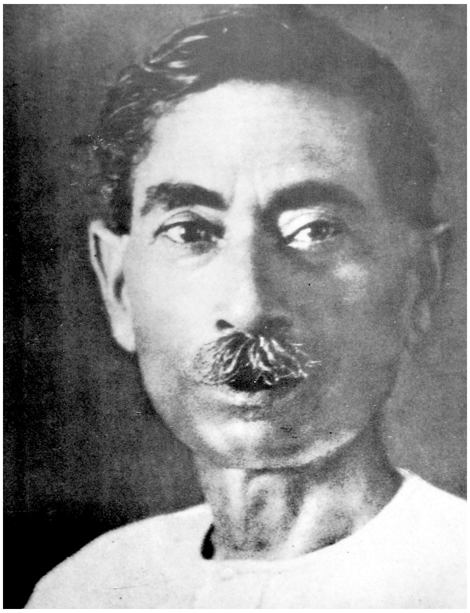

अध्ययन करती हैं। *अछूत कन्या* (1936) और *तराना* (1951) जैसी फ़िल्मों के अध्ययन के ज़रिए इरा भास्कर दर्शाती हैं कि इन फ़िल्मों और इनके गीतों में स्त्रियों की आकांक्षाएँ हैं और उनमें सामाजिक दायरे और प्रतिबंधों से परे जाने की उनकी छटपटाहट जज़्ब है। इरा भास्कर 'असामान्य' (डिवीएंट) महिलाओं की छवियों का अध्ययन करने के लिए विविध विधाओं की फ़िल्मों को चुनती हैं, जिनमें सामाजिक (सोशल), भक्ति, रोमांस, ऐतिहासिक गाथाएँ और दास्ताँ, तवायफ़ों पर बनी फ़िल्में शामिल हैं।[20] उनके अनुसार, ये फ़िल्में भले ही स्वीकार्य सामाजिक संरचना को बरक़रार रखती हों लेकिन वे स्त्रियों की आकांक्षाओं/कामनाओं की मेलोड्रामाई अभिव्यक्ति के तौर पर इस सामाजिक संरचना के जेंडर संबंधी मूल्यों पर सवाल भी खड़े करती हैं। विशेषकर इन फ़िल्मों के गाने और कुछ मामलों में उनके संवाद भी। उनके अनुसार, फ्रांज़ ऑस्टेन द्वारा निर्देशित *अछूत कन्या* में जेंडर के साथ जाति का सवाल भी गुँथ जाता है और फ़िल्म जाति-व्यवस्था की जकड़बंदी तथा जातिगत पूर्वाग्रहों का दंश झेलने को मजबूर नायक-नायिका के संघर्षों और उनकी असफल प्रेम कहानी के ज़रिए जेंडर और सामाजिक संबंधों पर भी मानीख़ेज़ टिप्पणी करती है।

बीसवीं सदी के तीसरे दशक में सवाक फ़िल्में तेज़ी से दर्शकों के बीच पैठ बना रही थीं। मूक फ़िल्मों के निर्माता-निर्देशकों, अदाकारों, प्रशंसकों के मन में सवाक फ़िल्मों को लेकर कई तरह की आशंकाएँ भी थीं। वे यह भी सोच रहे थे कि मूक फ़िल्मों के जमे-जमाए दर्शक वर्ग और बाज़ार को भेदने में सवाक सिनेमा सक्षम नहीं हो सकेगा। एक ऐसी ही टिप्पणी प्रेमचंद ने 29 अगस्त, 1932 को 'जागरण' में लिखे एक संपादकीय में की थी। प्रेमचंद ने यह आशा जताई कि मूक फ़िल्मों के दिन फिर लौटेंगे। उन्होंने लिखा :

ऐसा जान पड़ता है कि सवाक फ़िल्मों की हवा बहुत जल्द बिगड़ जाएगी। मूक फ़िल्म एक साल तक भूमंडल में प्रचलित हो जाती थी। सवाक फ़िल्मों का क्षेत्र बहुत तंग हो गया है। क्योंकि अंग्रेज़ी फ़िल्मों का आनंद वही उठा सकते हैं, जो अंग्रेज़ी के ज्ञाता हों। किसी देश की साधारण जनता विदेश की भाषाओं में इतनी कुशल नहीं होती कि विदेशी बोलचाल समझ कर उसका आनंद उठा सके। अतएव सवाक फ़िल्म बनाने वालों को बराबर घाटा हो रहा है और यह अवस्था बहुत दिन तक नहीं रह सकती।[21]

---

[20] इरा भास्कर (2019) : 27 : 44.

[21] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 8 : 128.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 179

ज़ाहिर है कि प्रेमचंद की सवाक फ़िल्मों से जुड़ी यह धारणा/आशंका निर्मूल साबित हुई। सवाक फ़िल्मों ने कुछ ही वर्षों में मूक फ़िल्मों की जगह ले ली। फ़िल्म अध्येता कौशिक भौमिक के अनुसार, सवाक फ़िल्मों ने फ़िल्मों के वितरण और उनके प्रदर्शन के पूरे ढाँचे को समूचे हिंदुस्तानी दर्शकों के अनुरूप बनाने की कोशिश की और शुरुआती सवाक फ़िल्मों की अपार सफलता ने इस संरचनात्मक बदलाव में अहम भूमिका निभाई। कौशिक भौमिक सवाक फ़िल्मों और मध्यवर्गीय चेतना के उभार को जोड़कर देखते हैं। उनके अनुसार, 'भारतीय मध्यवर्ग के लिए भारतीय और बंबईया सिनेमा की असल शुरुआत सवाक फ़िल्मों से ही शुरू होती है।'[22]

बतौर संपादक प्रेमचंद ने सिने पत्रिकाओं की चर्चा भी *हंस* जैसी पत्रिकाओं में की। *हंस* के फ़रवरी 1934 के अंक में प्रेमचंद ने बंबई से प्रकाशित होने वाली मासिक सिने पत्रिका *मूविंग पिक्चर मंथली* के वार्षिकांक पर एक टिप्पणी लिखी। *मूविंग पिक्चर मंथली* के वार्षिकांक में प्रकाशित लेखों और पत्रिका के कलेवर के बारे में प्रेमचंद लिखते हैं :

> लेखों में कई स्वयं उन महानुभावों के हैं, जो फ़िल्म-स्टेज में यश कमा चुके हैं। अपने पेशे पर वे क्या कहते हैं, यह महत्त्व की बात है। सिनेमा संबंधी प्रायः सभी बातों पर कुछ-न-कुछ प्रकाश डाला गया है और छपाई, सजावट और चित्रों की दृष्टि से तो यह पत्र किसी विदेशी सिनेमा मैगज़ीन से टक्कर ले सकता है। हमें यह जानकर हर्ष हुआ कि इसके यशस्वी संपादक मि. आर.के. रेले भी सिनेमा में उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाओं के समर्थक हैं और उसे बाजारू रुचि से बचाना चाहते हैं।[23]

ऐसी ही एक टिप्पणी प्रेमचंद ने 'जागरण' में हिंदी की सिने-पत्रिका *चित्रपट* के होलिकांक पर लिखी थी। उल्लेखनीय है कि ऋषभचरण जैन *चित्रपट* के संपादक थे। प्रेमचंद लिखते हैं कि 'इस समय हिंदी में सिनेमा-संबंधी जितने पत्र हैं, उनमें सबसे अच्छा, सुसंपादित पत्र *चित्रपट* ही है। होली के अवसर पर इसने 'होलिकांक' प्रकाशित किया है, और प्रसन्नता की बात है कि होली का कीचड़ इसमें नहीं है। लेख, कविता, नाटक आदि सभी कुछ शिष्ट सामग्री इसमें है।'[24]

सिनेमा, समाज और युवा

प्रेमचंद ने अपने लेखों में सिनेमा के दुष्प्रभावों की बात भी उठाई थी। सितंबर 1933 में 'जागरण' में प्रकाशित संपादकीय लेख में प्रेमचंद ने मद्रास प्रांत के सेंसर बोर्ड द्वारा गठित उस समिति की प्रश्नावली का भी ज़िक्र किया, जो युवाओं पर फ़िल्मों के प्रभाव का मूल्यांकन करने के लिए बनाई गई थी। भारतीय सिनेमा की तात्कालिक स्थिति पर टिप्पणी करते हुए

---

[22] कौशिक भौमिक (2001) : 145.

[23] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 9 : 384.

[24] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 9 : 431.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 180

प्रेमचंद ने लिखा :

> उसकी वर्तमान प्रगति तो किसी तरह भी आशाजनक नहीं कही जा सकती। हाँ, अगर युवकों और युवतियों के निर्लज्ज चुंबन और आलिंगन और हत्या तथा अपराध के दृश्यों पर ही समाज की जागृति और उन्नति का दारोमदार है, तो निस्संदेह हम आँधी की चाल से उन्नति की ओर बढ़े जा रहे हैं। यूरोप का विलास तो अपनी सारी बुराइयों के साथ आ डटा पर यूरोप का अध्यवसाय और साहस और उत्सर्ग और अन्य हज़ारों खूबियाँ जो उन विलासिता का परदा ढा सकती हैं, यहाँ कहीं नज़र नहीं आतीं।[25]

युवकों पर फ़िल्मों के दुष्प्रभाव के बारे में ही प्रेमचंद ने *जागरण* में 11 दिसंबर, 1933 को एक संपादकीय लिखकर चिंता ज़ाहिर की थी। प्रेमचंद ने लिखा कि 'सिनेमा-चित्रों में प्रायः जिस तरह के दृश्य दिखाए जाते हैं, उनका युवकों के चरित्र पर बुरा परिणाम देखकर यूरोप के कई देशों ने 16 वर्ष से कम उम्र के कुमारों को सिनेमा देखने का क़ानूनी निषेध कर दिया है।' फ़िल्म में दिखाए जाने वाले हिंसा, रक्तपात के दृश्यों के युवामन पर पड़ने वाले प्रभाव को लेकर भी प्रेमचंद ने अपनी आशंका प्रकट की। वे शिक्षोपयोगी और प्रेरक फ़िल्मों के हामी थे। पर इस संदर्भ में भी उन्होंने कुछ शिक्षाविदों के हवाले से फ़िल्मों की उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न खड़े किए। प्रेमचंद ने लिखा कि 'शिक्षोपयोगी चित्रों से अलबत्ता युवकों का बहुत कुछ उपकार होने की आशा की जाती है। भूगोल, इतिहास, आरोग्य आदि विषयों की शिक्षा चित्रों द्वारा बहुत ही सरल और मनोरंजक हो गई है, पर शिक्षा-सिद्धांत के मर्मज्ञों को ये शिक्षा-विषयक चित्रपट भी दोष से ख़ाली नहीं दीखते। इनका असर इतना ख़राब तो नहीं होता कि कुकृत्यों की ओर ले जाए, पर बौद्धिक विकास में इससे बाधा पड़ती है।'[26] ऐसी शिक्षोपयोगी और उत्कृष्ट फ़िल्मों के अभाव पर टिप्पणी करते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि जब तक फ़िल्म व्यवसाय सुशिक्षित और विचारशील तथा चरित्रवान व्यक्तियों के हाथ में न जाएगा, इसके सुधरने की कोई आशा नहीं।

हंस में मार्च 1935 में लिखे एक संपादकीय में प्रेमचंद ने सिनेमा पर टिप्पणी करते हुए सिनेमा को समाजोपयोगी और शिक्षाप्रद बनाने पर ज़ोर दिया था। प्रेमचंद ने लिखा कि 'सिनेमा का प्रचार दिन-दिन बढ़ रहा है। केवल इंग्लैंड में दो करोड़ दर्शक प्रति-सप्ताह सिनेमा देखने जाते हैं। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र का फ़र्ज़ हो गया है कि वह सिनेमा की प्रगति पर कड़ी निगाह रखे और इसे केवल धन-लुटेरों के ही हाथ में न छोड़ दे।'[27] प्रेमचंद ने साहित्य और कला के साथ सिनेमा के सामने भी एक आदर्श रखा कि 'वह सुंदर और पवित्र की रचना करके मनुष्य में जो कोमल और ऊँची भावनाएँ हैं, उन्हें पुष्ट करें और जीवन के संस्कारों से मन और हृदय में जो गर्द और मैल जम रहा हो, उसे साफ़ कर दे।' साहित्य, काव्य और कला के

---

[25] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 8 : 424-25.

[26] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 8 : 485-86.

[27] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 9 : 163, लेख के आगे के अंश इसी लेख पर आधारित हैं.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 181

ध्येय की बाबत प्रेमचंद ने लिखा था कि उसे मनुष्य की निम्न भावनाओं का दमन करते हुए उसकी कोमल और सुंदर वृत्तियों को जगाना चाहिए।

प्रेमचंद सिनेमा के निरे व्यवसायीकरण के विरोधी थे। वे इस बात से सहमत नहीं थे कि जनता की माँग को पूरा करने के लिए ही सिनेमा निर्माता हिंसा, रक्तपात, अश्लीलता से भरी फ़िल्में बनाते हैं। इसका प्रतिवाद करते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि 'जनता प्रेम और त्याग अथवा मित्रता और करुणा से भरी हुई तस्वीरों को और भी रुचि से देखना चाहती है, मगर हमारे सिनेमा वालों ने पुलिस वालों की मनोवृत्ति से काम लेकर यह समझ लिया है कि केवल भद्दे और मसखरेपन तथा भड़ैती और बलात्कार और सौ फीट की ऊँचाई से कूदने, झूठमूठ टीन की तलवार चलाने में ही जनता को आनंद आता है।'

प्रेमचंद ने उम्मीद जताई कि धीरे-धीरे ऐसी प्रेरणादायी और आदर्श फ़िल्मों के लिए जनता के दिलों में जगह बनेगी और उन्हें सफलता मिलेगी। अश्लीलता और हिंसक फ़िल्में दिखाकर जनता को अधिक दिनों तक गुमराह करना संभव नहीं। प्रेमचंद ने इस संपादकीय के आख़िर में लिखा कि 'जनमत अब सिनेमा में सच्चे और संस्कृत जीवन का प्रतिबिंब देखना चाहता है, राजाओं के विलासमय जीवन और उनकी ऐय्याशियों और लड़ाइयों से किसी को प्रेम नहीं रहा।'

सिनेमा और साहित्य की परख : प्रेमचंद और नरोत्तम प्रसाद नागर

वर्ष 1935 में प्रेमचंद ने *लेखक* पत्रिका में 'सिनेमा और साहित्य' शीर्षक से एक लेख लिखा। इसमें उन्होंने सिनेमा व साहित्य से जुड़े अपने विचारों को विस्तार से रखा। प्रेमचंद ने इस लेख में साहित्य के विषय में टिप्पणी करते हुए लिखा कि साहित्य वह है जो पवित्र भावों को जगाए। इसके उलट अगर कोई पुस्तक हमारी पशु-भावना को बढ़ाती है, तो उसे साहित्य नहीं कहा जा सकता। इसी क्रम में प्रेमचंद ने लिखा कि पारसी स्टेज के ड्रामे, होली, कजली और बारहमासे की पुस्तकें भी साहित्य नहीं कही जा सकतीं। भले ही वे ज़्यादा बिकती हों और लोगों को मनोरंजन क्यों न करती हों! बक़ौल प्रेमचंद, 'साहित्य में भावों की जो उच्चता, भाषा की जो प्रौढ़ता और स्पष्टता, सुंदरता की जो साधना होती है, वह हमें वहाँ नहीं मिलती।'

भारतीय सिनेमा के बारे में भी प्रेमचंद का कुछ यही ख़्याल था। उनके अनुसार, सिनेमा उद्योग का उद्देश्य केवल पैसा कमाना है। 'सुरुचि या सुंदरता से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। वह तो जनता को वही चीज़ देंगे जो वह माँगती है।' वह लोगों की निम्न भावनाओं को तुष्ट करने के लिए बनाई जाती है। फ़िल्म-निर्माताओं के बारे में प्रेमचंद ने लिखा कि उनका पूरा ज़ोर अपनी फ़िल्मों में ऐसा मसाला रखने पर होता है, कि वह जनता के बीच खूब लोकप्रिय हो। साहित्य और सिनेमा की तुलना क्रमशः दूध और ताड़ी/शराब से करते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि 'साहित्य दूध होने का दावेदार है, सिनेमा ताड़ी या शराब की भूख को शांत करता है।'[28]

[28] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 7 : 458, लेख के आगे के अंश इसी लेख पर आधारित हैं.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 182

जहाँ एक ओर साहित्य को प्रेमचंद ने जन-रुचि का पथ-प्रदर्शक कहा वहीं दूसरी ओर उन्होंने सिनेमा को जन-रुचि के पीछे चलने वाला, उसका अनुगामी बताया। प्रेमचंद ने आगे जोड़ा कि 'अभी वह ज़माना बहुत दूर है जब सिनेमा और साहित्य का एक रूप होगा। लोक-रुचि जब इतनी परिष्कृत हो जाएगी कि वह नीचे ले जाने वाली चीज़ों से घृणा करेगी, तभी सिनेमा में साहित्य की सुरुचि दिखाई पड़ सकती है। प्रेमचंद ने नारायण प्रसाद 'बेताब', मुंशी गौरीशंकरलाल अख़्तर, हरिकृष्ण प्रेमी, जमनाप्रसाद कश्यप, चंद्रिकाप्रसाद श्रीवास्तव, धनीराम प्रेम, सेठ गोविंददास, पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र जैसे हिंदी के उन लेखकों का भी ज़िक्र किया जो उस वक़्त सिनेमा-उद्योग से जुड़े हुए थे। प्रेमचंद ने लिखा कि अब देखना है कि 'सिनेमा इन्हें बदल देता है या ये सिनेमा की कायापलट कर देते हैं।'

उल्लेखनीय है कि बीसवीं सदी के तीसरे दशक में अंग्रेज़ी के साथ-साथ गुजराती, हिंदी, बांग्ला जैसी भारतीय भाषाओं में भी फ़िल्म पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ। यह वही दौर था जब सिनेमा बड़े महानगरों और प्रेसीडेंसियों की राजधानी से परे उत्तर भारत और पश्चिमोत्तर भारत के शहरों तक पहुँच रहा था। वर्ष 1924 में गुजराती में फ़िल्म पत्रिका *मौज मजा* के प्रकाशन के साथ फ़िल्म पत्रिकाओं का दौर आरंभ हुआ। *चित्रपट*, *सिनेमा संसार*, *वातायन*, *चित्रलेखा* जैसी पत्रिकाएँ इसी दौर में निकलीं। फ़िल्म केंद्रित आलोचना और फ़िल्म समीक्षा के साथ ही ये पत्रिकाएँ आगामी फ़िल्मों के निर्माण संबंधी जानकारियाँ, फ़िल्म स्टूडियो से जुड़ी ख़बरें और अभिनेता-अभिनेत्रियों के साक्षात्कार भी प्रकाशित करती थीं।[29]

हिंदी की एक ऐसी ही फ़िल्म पत्रिका *रंगभूमि* के संपादक नरोत्तम नागर ने प्रेमचंद के लेख 'सिनेमा और साहित्य' पर अपनी प्रतिक्रिया देते हुए प्रेमचंद को एक ख़त लिखा। इसमें उन्होंने प्रेमचंद के सिनेमा संबंधी कुछ विचारों से अपनी असहमति जताई थी। नरोत्तम नागर ने प्रेमचंद द्वारा साहित्य और सिनेमा के बारे में किए गए सामान्यीकरण पर असहमति प्रकट करते हुए अपने पत्र में लिखा : 'निश्चय ही सिनेमा ताड़ी और साहित्य दूध है पर इस चीज़ को जेनरलाइज़ करना ठीक न होगा – सिनेमा के लिए भी और साहित्य के लिए भी। साहित्य भी इस ताड़ीपन से अछूता नहीं है। सिनेमा को मात करने वाले उदाहरण भी उसमें मिल जाएँगे।'

नरोत्तम नागर का मत था कि प्रेमचंद ने साहित्य के जो उद्देश्य गिनाए हैं, उन्हें हासिल करने में सिनेमा साहित्य से कहीं अधिक प्रभावी हो सकता है। उपयोगिता की दृष्टि से भी और दर्शकों पर प्रभाव की दृष्टि से भी। सिनेमा के दुरुपयोग के लिए नरोत्तम नागर ने फ़िल्म-निर्माताओं को दोषी ठहराते हुए लिखा कि 'सब होते हुए भी सिनेमा की उपयोगिता कुपात्रों के हाथों में पड़कर दुरुपयोगिता में परिणत हो रही है। इसमें दोष सिनेमा का नहीं, उनका है जिनके हाथ में इसकी बागडोर है। इनसे भी अधिक उनका है जो इस चीज़ को बर्दाश्त करते हैं।' सिनेमा-उद्योग से जुड़े साहित्यकारों की बाबत भी नरोत्तम नागर ने लिखा कि 'सिनेमा में प्रवेश करने वाले साहित्यिकों में ऐसा कौन है, जिसके सिनेमा-प्रवेश का मुख्य उद्देश्य सिनेमा

---

29 कौशिक भौमिक (2001).

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 183

को अपने रंग में रँगना रहा हो? क्या किसी भी साहित्यिक ने सिंसीयरली इस ओर कुछ काम किया है? पहले सिनेमा-जगत को कुछ दीजिए; या यों ही गले में जयमाल पड़ जाए?'

होली, कजरी और बारहमासे के गीतों के बारे में प्रेमचंद ने जो विचार रखे थे उनसे मतभेद प्रकट करते हुए नरोत्तम नागर ने लिखा, 'इन चीज़ों को साहित्य नहीं कहा जाता या साहित्यिक इन्हें रिकग्नाइज़ नहीं करते, यह ठीक है। लेकिन उनका अस्तित्व है और जिस प्रेरणा या उमंग को लेकर अन्य कलाओं का सृजन होता है, उन्हीं को लेकर ये होली, कजरी और बारहमासे भी आए हैं।' उन्होंने आगे जोड़ा कि केवल उपयोगितावादी दृष्टि से लिखा गया साहित्य ही साहित्य है, यह समझ ठीक नहीं क्योंकि 'ऐसी रचना करने के लिए साहित्यिक से अधिक प्रोपेगेंडिस्ट होने की ज़रूरत है।' *हंस* के जून 1935 के अंक में प्रकाशित लेख में नरोत्तम नागर का यह पत्र प्रेमचंद ने अपने जवाब के साथ प्रकाशित किया था।[30]

अपने पत्र में नरोत्तम नागर ने प्रभात, न्यू थिएटर्स, रणजीत जैसी फ़िल्म कंपनियों और शांताराम, देवकी बोस और चंदूलाल शाह जैसे फ़िल्म निर्देशकों का उल्लेख करते हुए लिखा कि इन कंपनियों, निर्देशकों और उनकी बनाई हुई फ़िल्मों को जनता और शिक्षित वर्ग दोनों में ही पर्याप्त लोकप्रियता हासिल हुई है। साहित्य और सिनेमा में सेक्स की उपस्थिति के संदर्भ में नरोत्तम नागर ने लिखा कि 'आप किसी भी ऐसी रचना का नाम बताएँ, जिसमें सेक्स अपील न हो। सेक्स अपील बुरी चीज़ नहीं है, वह तो होनी ही चाहिए। लोहा तो हमें उस प्रवृत्ति से लेना है, जो सेक्स अपील और सेक्स परवर्शन में कोई भेद नहीं समझती।'

सिनेमा में सुधार की बात से अपनी सहमति जताते हुए नरोत्तम नागर ने लिखा कि सिनेमा की वर्तमान स्थिति में बदलाव की अपेक्षा फ़िल्म उद्योग या फ़िल्म निर्माताओं से रखना व्यर्थ है। साहित्यकारों, प्रेस, नवयुवकों को ही इसकी ज़िम्मेदारी उठानी होगी। उस समय नरोत्तम नागर फ़िल्म पत्रिका *रंगभूमि* के माध्यम से ऐसी ही कोशिश कर रहे थे। लेखकों द्वारा इस ओर

[30] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 7 : 461, लेख के आगे के अंश इसी लेख पर आधारित हैं.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 184

न ध्यान दिए जाने पर शिकायत के स्वर में उन्होंने लिखा : 'सिनेमा सुधार की आवश्यकता को तो सब महसूस करते हैं, सिनेमा का विरोध भी जी खोलकर करते हैं, पर क्रियात्मक सहयोग का नाम सुनते ही अलग हो जाते हैं। सिर्फ़ इसलिए कि सिनेमा बदनाम है और यह चीज़ हमारे रोम-रोम में धँसी हुई है कि बद अच्छा बदनाम बुरा।'

अपने प्रत्युत्तर में प्रेमचंद ने पुनः साहित्य के आदर्शों की याद दिलाते हुए लिखा कि 'साहित्य का उद्देश्य जीवन को बल और स्वास्थ्य प्रदान करना है। अन्य सभी उद्देश्य इसके नीचे आ जाते हैं।' फ़िल्म उद्योग के अपने अनुभवों का ज़िक्र करते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि 'मैं आदर्शों को लेकर गया था, लेकिन मुझे मालूम हुआ कि सिनेमा वालों के पास बने-बनाए नुस्खे हैं, और आप उन नुस्खों के बाहर नहीं जा सकते।'

उपयोगितावादी साहित्य के संबंध में भी प्रेमचंद अपने विचारों पर अडिग थे। उनका कहना था कि 'परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कलाएँ उपयोगिता के सामने घुटने टेकती हैं। प्रोपेगेंडा बदनाम शब्द है, लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्धक साहित्य प्रोपेगेंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिए।' सेक्स-अपील के संदर्भ में प्रेमचंद ने लिखा कि वे इसे हौआ नहीं मानते, लेकिन वे उसके विकृत रूप की निंदा ज़रूर करेंगे क्योंकि वह साहित्य को दूषित कर देती है। उन्होंने आगे जोड़ा कि 'सिनेमा में वह अपील और भी भयंकर हो गई है, जो संयम और निग्रह का उपहास है।'[31] आख़िर में प्रेमचंद ने नरोत्तम नागर के प्रयास की सराहना करते हुए कहा कि वे भी सिनेमा को परिष्कृत रूप में देखने के इच्छुक हैं।

राहुल सांकृत्यायन और सिनेमा

प्रेमचंद *हंस* के पन्नों में जब सिनेमा के सवाल पर नरोत्तम नागर से संवाद कर रहे थे, उसी दौरान हिंदी के एक और मूर्धन्य साहित्यकार राहुल सांकृत्यायन सिनेमा से जुड़ी अपनी राय को अपनी डायरी में दर्ज कर रहे थे। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी आत्मकथा *मेरी जीवन-यात्रा* में अपनी देखी हुई फ़िल्मों के बारे में जगह-जगह जो टिप्पणियाँ लिखी हैं, वे उनकी सुलझी हुई कला-दृष्टि और सिनेमा के प्रति उनके दृष्टिकोण से हमें परिचित कराती हैं।

बीसवीं सदी के चौथे-पाँचवें दशक में जब राहुल सांकृत्यायन फ़िल्म संबंधी ये टिप्पणियाँ लिख रहे थे, तब हिंदी में फ़िल्म समीक्षा अथवा फ़िल्म संबंधी लेखन अभी अपने शुरुआती दौर में ही था। *रंगभूमि*, *चित्रपट* और *मनोरंजन* जैसी फ़िल्म पत्रिकाएँ थोड़े समय के लिए अस्तित्व में ज़रूर रहीं। साथ ही, *सुधा*, *सरस्वती* और *चाँद* जैसी हिंदी की प्रसिद्ध पत्रिकाओं में भी फ़िल्म संबंधी लेख प्रकाशित होते थे। किंतु हिंदी में फ़िल्म संबंधी अभिरुचियों, उससे जुड़े अनुभवों को आकार देने में जिस *माधुरी* पत्रिका का सबसे अहम योगदान रहा, वह वर्ष 1964 में छपनी शुरू हुई यानी राहुल जी के निधन के साल भर बाद।[32] इसलिए भी हिंदी

[31] *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 7 : 464.

[32] रविकान्त (2016).

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 185

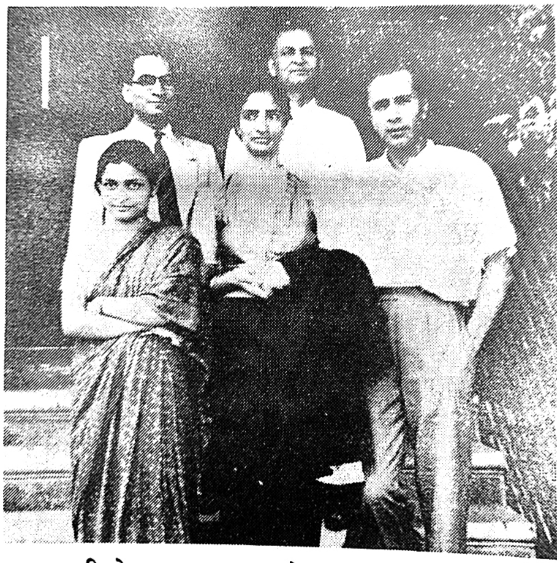

राहुल जी के साथ आजकल के भूतपूर्व सम्पादक श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार (पीछे सबसे बाएं) प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता बलराज साहनी (दाएं) श्रीमती कमला सांकृत्यायन (बाएं)

फ़िल्म अध्ययन की विकास-प्रक्रिया को समझने में राहुल सांकृत्यायन द्वारा की गई फ़िल्म संबंधी इन टिप्पणियों की अहमियत बढ़ जाती है।

वर्ष 1935 से 1947 के बीच संपन्न हुईं अपनी तीन सोवियत-यात्राओं के दौरान राहुल जी ने फ़िल्मों के साथ-साथ रूसी नाटक, बैले और ओपेरा भी देखे और उनसे प्रभावित हुए बिना न रहे। सोवियत रंगमंच और सिनेमा के यथार्थवादी तेवर ने ख़ास तौर पर राहुल सांकृत्यायन का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। इसी तरह सिनेमा संबंधी राहुल जी की टिप्पणियों की दूसरी ख़ासियत ये है कि इनसे हमें बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक में सोवियत रूस और हिंदुस्तानी सिनेमा के तुलनात्मक अध्ययन में भी मदद मिलती है।

सोवियत सिनेमा का अनुभव

अपनी सोवियत यात्रा के दौरान राहुल जी ने कई सोवियत फ़िल्में देखीं। भारतीय फ़िल्मों से उनकी तुलना करने पर वे सोवियत फ़िल्मों को तकनीक, प्रस्तुति और विषयवस्तु के मामले में भारतीय फ़िल्मों से कहीं आगे पाते थे। इस संदर्भ में उनकी टिप्पणी ग़ौरतलब है : 'सोवियत फ़िल्म देखने से मुझे उतना वैराग्य नहीं होता था, जितना भारत की फ़िल्मों को। यहाँ तो बरस में कभी एक बार गला दबाने पर यदि जाता भी हूँ तो ऊबकर बीच में ही चले आने की इच्छा हो जाती है। सोवियत की फ़िल्में केवल यौन-आकर्षण को लेकर नहीं बनतीं, इसका यह

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 186

मतलब नहीं कि उनमें स्त्री-पुरुषों के प्रेम संबंध को छिपाने की कोशिश की जाती है। तो भी उतना ही रहता है, जितना कि दाल में नमक।'[33]

वर्ष 1927 में सोवियत रूस की यात्रा करने वाले जवाहरलाल नेहरू भी सोवियत फ़िल्मों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। सोवियत रूस के बारे में लिखी पुस्तक में नेहरू ने सोवियत सिनेमा की जमकर प्रशंसा की है। द *लास्ट डेज़ ऑफ़ पेट्रोग्राद* फ़िल्म देखने के बाद नेहरू ने लिखा था, 'रूसी फ़िल्मकार अपनी फ़िल्मों की ख़ूबसूरती और कलात्मक उत्कृष्टता के लिए जाने जाते हैं। लेकिन दुर्भाग्य से हिंदुस्तान में हमें रूसी फ़िल्मों को देखने का मौक़ा नहीं मिलता। हम तो अमेरिका के हॉलीवुड में बनी भौंडी और बचकाना फ़िल्मों को ही देखने के लिए अभिशप्त हैं।'[34]

राहुल सांकृत्यायन ने सिनेमाघरों की बाबत लिखते हुए भी सोवियत सिनेमाघरों को दर्शकों की सुविधाओं के लिहाज़ से हिंदुस्तानी सिनेमाघरों के मुक़ाबले कहीं बेहतर पाया। उनके अनुसार, जहाँ हिंदुस्तानी सिनेमाघरों में निचले दो दर्जों के दर्शक आँख फोड़ने के लिए बैठाए जाते हैं, सोवियत सिनेमाघरों में वह जगह ख़ाली रहती है। सोवियत रूस की अपनी दूसरी यात्रा के दौरान राहुल जी ने नवंबर 1938 में एक रूसी फ़िल्म *पुगाचेफ़* देखी। पावेल पेत्रोव-बाइतोव द्वारा निर्देशित यह फ़िल्म अठारहवीं सदी के रूस में जारशाही के ख़िलाफ़ वर्ष 1773-75 के दौरान बग़ावत का झंडा बुलंद करने वाले विद्रोही *पुगाचेफ़* के जीवन पर आधारित थी। *पुगाचेफ़* ने जारशाही के अत्याचारों के विरुद्ध हज़ारों किसानों को संगठित कर एक सशस्त्र दल क़ायम किया और जारशाही से लोहा लिया था। हालाँकि बाद में उसे पकड़ कर मौत के घाट उतार दिया गया और जारशाही द्वारा विद्रोह का दमन कर दिया गया था। राहुल जी ने इस फ़िल्म की विषयवस्तु, कथानक और फिल्मांकन की खुलकर प्रशंसा की।

सोवियत फ़िल्मों में भी राहुल सांकृत्यायन विशेष रूप से उज़्बेकिस्तान, क़ज़ाकस्तान, अज़रबैज़ान, मंगोलिया आदि मध्य एशियाई देशों की फ़िल्में पसंद करते थे। ऐसी ही एक उज़्बेक फ़िल्म *ताहिर और ज़ोहरा* देखने का उल्लेख उन्होंने *मेरी जीवन यात्रा* में किया है। मार्च 1946 में राहुल जी द्वारा देखी गई यह फ़िल्म एक ऐतिहासिक प्रेम कहानी पर आधारित थी। फ़िल्म के विषय में राहुल जी का मत है कि 'कथानक और अभिनय की दृष्टि से फ़िल्म बड़ी सुंदर थी, लेकिन सोवियत फ़िल्मों में जो विशाल प्राकृतिक दृश्य देखने को मिलते हैं, वह इसमें नहीं थे – न वह अनंत बयाबान और पर्वतमाला, न नदी की विस्तृत उपत्यका, न नगर के ही हर अंग का प्रदर्शन।'[35]

ताहिर और ज़ोहरा फ़िल्म देखने के ठीक अगले ही दिन राहुल जी ने एक कज़ाक फ़िल्म देखी, *अवाय के गीत* (पीस्ने अबायेफ़)। कज़ाक भाषा के महान साहित्यकार अबायेफ़

---

[33] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 3 : 101.

[34] जवाहर लाल नेहरू (1949), (1929) : 16.

[35] राहुल सांकृत्यायन (2002) खंड 3 : 101.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 187

(1845-1904) के जीवन पर आधारित यह फ़िल्म *पीस्ने अबायेफ़* कज़ाक समाज और संस्कृति, संगीत और नृत्य का गहन परिचय देती है। अबायेफ़ का विद्याप्रेम उन्हें कज़ाकस्तान के विभिन्न इलाक़ों में बसे हुए रूसी विद्वानों के संपर्क में ले आया, जिनसे उन्होंने रूसी भाषा व साहित्य का गहरा अध्ययन किया। अबायेफ़ ने अपनी सारी रचनाएँ अपनी मातृभाषा में लिखी थीं किंतु कज़ाक समाज उस वक़्त पर्याप्त साक्षर नहीं था, जिसकी वजह से अबायेफ़ को अपने जीवनकाल में समुचित सम्मान न मिल सका। लेकिन सोवियत रूस में दिवंगत अबायेफ़ की कृतियों और उसकी विद्वत्ता को सम्मान मिलना आरंभ हुआ। राहुल जी ने अबायेफ़ की सराहना करते हुए लिखा है कि 'आज वह कज़ाकस्तान का वाल्मीकि और अश्वघोष, कालिदास और बाण है।'

फ़िल्म *पीस्ने अबायेफ़* में न सिर्फ़ कज़ाक कवि अबायेफ़ के जीवन में आने वाले उतार-चढ़ाव को दर्शाया गया था बल्कि कज़ाकस्तान के घुमंतू समाजों, उनके सामाजिक संगठन, उनकी जीवनचर्या को भी बख़ूबी प्रदर्शित किया गया था। अकारण नहीं कि राहुल जी को यह फ़िल्म बड़ी सुंदर और ज्ञानवर्धक लगी। फ़िल्म में दर्शाए गए प्राकृतिक दृश्यों की ख़ूबसूरती पर टिप्पणी करते हुए राहुल जी ने लिखा कि 'प्राकृतिक दृश्य बड़े सुंदर थे, जिनको देखकर घर बैठे कज़ाकस्थली की सैर हो सकती थी। चरागाहों का बड़ा सुंदर दृश्य दिखलाया गया था। कज़ाकस्तान के पहाड़, नदियों की उपत्यकाएँ भी मनोहारिणी थीं।'[36] राहुल जी ने सोवियत फ़िल्मों की चर्चा करते हुए उनमें फ़िल्माए गए प्राकृतिक भूदृश्यों (लैंडस्केप) को बारंबार सराहा है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि सोवियत सिनेमा में लैंडस्केप के इस्तेमाल के बारे में रूसी फ़िल्मों की अध्येता एमा विडिस का विचार है कि इसके ज़रिए सोवियत सिनेमा ने सोवियत अस्मिता के निर्माण के साथ-साथ सोवियत रूस की भौगोलिक संकल्पना, स्पेस और क्षेत्र की अवधारणा को भी रचने का काम किया (एमा विडिस, 2003)।

अप्रैल 1946 में राहुल जी ने केंद्रीय लाल सेना के थिएटर में एक और रूसी फ़िल्म *कतुज़ोव* देखी। व्लादिमीर पेत्रोव द्वारा निर्देशित यह फ़िल्म रूसी सेनापति मिखाइल कतुज़ोव (1745-1813) के जीवन पर आधारित थी, जिसने वर्ष 1812 में नेपोलियन की सेनाओं को रूस से खदेड़ने के अभियान का सफल नेतृत्व किया था। यह फ़िल्म नेपोलियन के समकालीन रूस का जीवंत चित्रण प्रस्तुत करती थी। फ़िल्म में दर्शाए गए प्राकृतिक दृश्यों, फ़िल्म के संवाद के बारे में राहुल जी लिखते हैं 'जाड़े की हिमाच्छादित भूमि, पर्वत में दूर-दूर तक बसे गाँव, देवदार और भुर्ज के वृक्ष ही नहीं बल्कि बड़े-बड़े रुई के फाहों जैसी पड़ती बर्फ़ और सनसनाती झंझा को भी इस फ़िल्म में दिखलाया गया था। संवाद और भी कमाल का था। नेपोलियन की परेशानी और कष्ट को दिखलाया गया था लेकिन कहीं भी उसके अभिमानपूर्ण चेहरे को दीन नहीं होने दिया गया।'[37] चूँकि *कतुज़ोव* एक ऐतिहासिक विषय पर बनी फ़िल्म थी, राहुल जी

---

[36] वही, खंड 3 : 102.

[37] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 3 : 110.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 188

ने लक्षित किया कि फ़िल्म के निर्देशक ने यह सुनिश्चित किया था कि ऐतिहासिक या भौगोलिक अनौचित्य न रह जाए। इसके लिए सैनिकों और सेनापतियों, नागरिकों और ग्रामीणों की पोशाक, फ़िल्म में दिखाए गए अस्त्र-शस्त्र, सभी उस कालविशेष के अनुरूप ही प्रयोग में लाए गए थे।

भारतीय सिनेमा : राहुल सांकृत्यायन की दृष्टि में

अगर भारतीय फ़िल्मों की बात करें तो राहुल सांकृत्यायन ने ऐतिहासिक विषयवस्तु पर बनी भारतीय फ़िल्मों में कालदोष, अनैतिहासिक विवरणों और चित्रण को आड़े हाथों लिया। मसलन, जब राहुल जी नवंबर 1942 से मार्च 1943 के बीच बंबई में थे, तब उन्होंने कई फ़िल्में देखीं। मगर अधिकांश ने उन्हें निराश ही किया। ग़ौरतलब है कि यह समय वैश्विक और राष्ट्रीय परिदृश्य पर व्यापक राजनीतिक उथल-पुथल का समय भी था। द्वितीय विश्व युद्ध के शुरू हुए तीन वर्ष बीत चुके थे। मार्च 1942 में भारत आए क्रिप्स मिशन की असफलता के कुछ महीनों बाद अगस्त 1942 में भारतीय राष्ट्रीय कॉन्ग्रेस ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत छोड़ो आंदोलन शुरू करने का निर्णय लिया। किंतु 9 अगस्त, 1942 की सुबह में ही सभी प्रमुख कॉन्ग्रेस नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया। कॉन्ग्रेसी नेताओं की गिरफ़्तारी के विरुद्ध जनता का गुस्सा सड़कों पर उमड़ पड़ा और भारत छोड़ो आंदोलन ने व्यापक रूप ले लिया। वर्ष 1940-42 के दौरान राहुल सांकृत्यायन को किसान आंदोलन में उनकी भागीदारी के चलते गिरफ़्तार कर हज़ारीबाग जेल और देवली कैंप में रखा गया। किंतु जब जर्मनी ने सोवियत संघ पर आक्रमण किया और सोवियत संघ इसे 'जन-युद्ध' (पीपुल्स वार) क़रार देकर द्वितीय विश्व युद्ध में कूद पड़ा, तब भारत के साम्यवादी दल ने भी युद्ध का समर्थन किया। इसी दौरान राहुल सांकृत्यायन को जेल से रिहा किया गया।

रिहाई के बाद अपने बंबई प्रवास के दौरान राहुल जी द्वारा देखी गई एक ऐसी ही फ़िल्म थी रामेश्वर शर्मा द्वारा निर्देशित *भक्त कबीर* जोकि वर्ष 1942 में रिलीज हुई थी। जनवरी 1943 में यह फ़िल्म देखने के बाद इसकी कमियों का उल्लेख करते हुए राहुल जी लिखते हैं : 'इतिहास और भूगोल के ऊपर दिल खोलकर छुरी चलाई गई है। नीरू को पाजामा पहनाया गया। आज भी बनारस की तरफ़ जुलाहों में बहुत कम ही पाजामा पहनते हैं। रामानंद को घंटा डुलाने वाला मुछंदर बनाया गया। कबीर के समय कहाँ से लाकर काशिराज को बसा दिया। बनारस से पूछने की क्या ज़रूरत? भारतीय थैलीशाहों की राजधानी बंबई सबको काम दे सकती है। गाने-नाचने को दिखाकर जब पैसों के बटोरने में बाधा नहीं, तो मौज़ है और बातों को। तुकाराम के अभंग को राम-रहीम, कृष्ण-करीम कहकर गवाया। गोया कबीरपंथियों की खजड़ीवाली भजन बुरी थी।'[38]

---

[38] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 2 : 375.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 189

मगर अपनी इन कमियों के बावजूद भी *भक्त कबीर* को दर्शकों द्वारा काफ़ी पसंद किया गया और तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में भी फ़िल्म की सराहना की गई। यूनिटी प्रोडक्शन द्वारा बनाई गई इस फ़िल्म को पंजाब सरकार ने इस टिप्पणी के साथ मनोरंजन कर से मुक्त कर दिया था कि 'यह अद्वितीय फ़िल्म लोगों में राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने का काम करेगी'। *बॉम्बे क्रॉनिकल* के एक संवाददाता ने फ़िल्म पर टिप्पणी करते हुए लिखा था (14 नवंबर, 1942) :

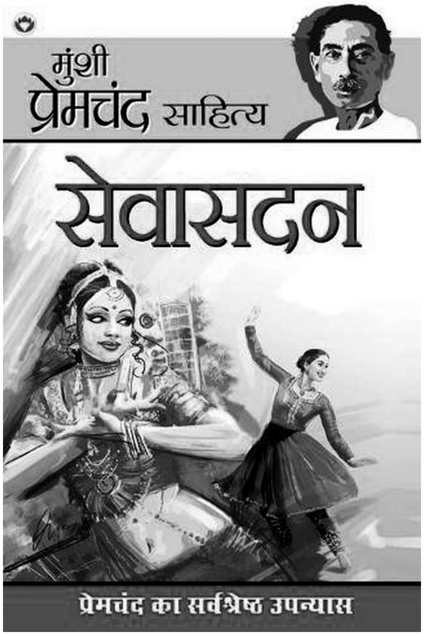

> पिछले शनिवार मैं 'भक्त कबीर' फ़िल्म देखने गया। यह एक विचारोत्तेजक और आनंददायी फ़िल्म है। इसे देखने के बाद हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि हिंदू और मुसलमानों में विभेद बनावटी हैं। ऐसी फ़िल्में हमारे जेहन पर गहरा असर डालती हैं और एकता को बढ़ावा देती हैं। हालाँकि मैंने चार दिन पहले यह फ़िल्म देखी थी, लेकिन मेरे दिमाग़ पर इसकी छाप अब भी ताज़ा है। यूनिटी प्रोडक्शंस ने कबीर पर, जिन्हें हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रतीक के रूप में देखा जाता रहा है, यह फ़िल्म बनाकर एक बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया है। कबीर के दोहों को जिस तरह फ़िल्म की कहानी में पिरोया गया है, वह लाजवाब है। यह फ़िल्म उन सभी लोगों द्वारा देखी जानी चाहिए, जो धर्म के वास्तविक स्वरूप और उसकी असली शिक्षाओं से वाबस्ता होना चाहते हैं।[39]

भारतीय फ़िल्मों में दिखने वाले हल्केपन और सिनेमा सरीखे कला के प्रभावशाली स्वरूप के प्रति भारतीय फ़िल्म निर्माताओं की अगंभीरता की प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए राहुल सांकृत्यायन ने लिखा कि सोवियत फ़िल्में और नाटक 'हमारे यहाँ की तरह नहीं हैं कि अशोक के समय उस विक्रमशिला का भिक्षु पेश कर दिया जाए, जिस विक्रमशिला का अस्तित्व अशोक से ग्यारह शताब्दियों बाद हुआ। रेडियो नाटकों में कलिंग विजय के समय बारूद का धड़ाका दिखाया जाए, जिसको कि बाबर के आने से पहले हिंदुस्तान के लोग जानते नहीं थे। हमारा ही देश क्या इस विषय में पश्चिमी यूरोप और अमेरिका वाले भी अभी सोवियत रूस से बहुत पीछे हैं।'[40] दिलचस्प बात है कि 1927 में गठित इंडियन सिनेमेटोग्राफ़ कमिटी ने भी भारत में बनने वाली ऐतिहासिक फ़िल्मों की त्रुटियों और अनैतिहासिकता की समस्या पर टिप्पणी की थी।[41] वर्ष 1944 में अपनी दक्षिण भारत की यात्राओं के दौरान राहुल

[39] रेचेल डॉयर (2006) : 90 [हिंदी अनुवाद मेरे द्वारा].

[40] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 3 : 119.

जी को इस बात का भी अहसास हुआ कि हिंदी फ़िल्में अहिंदी भाषी क्षेत्रों में हिंदी का प्रचार करने का एक महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली ज़रिया बन रही हैं।

सोवियत रूस जाने के लिए वीज़ा बनवाने और अपनी किताबों से जुड़े अन्य कार्यों को पूरा करने के लिए जब राहुल जी अप्रैल-मई 1944 में बंबई में ठहरे तब भी उन्होंने दो फ़िल्में देखीं, *शुक्रिया* और *ज़मीन*। उन्होंने इन दोनों फ़िल्मों के कथानक, अभिनय, फ़िल्मांकन का गहरा विश्लेषण किया। *शुक्रिया* फ़िल्म हरनाम सिंह रवैल द्वारा निर्देशित थी।[42] *शुक्रिया* फ़िल्म के बारे में राहुल जी की राय थी कि 'अभिनय अच्छा था इसमें संदेह नहीं, मगर सिर्फ़ गाने-नाचने और सौंदर्य प्रदर्शन के ही बल पर इस फ़िल्म को दर्शकों के मत्थे थोपा गया।' फ़िल्म के कथानक को उन्होंने बिल्कुल विशृंखलित, निर्जीव और निरुद्देश्य बताया।

शुक्रिया के उलट राहुल जी को फ़िल्म *ज़मीन* काफ़ी अच्छी लगी। आनंद कुमार द्वारा निर्देशित इस फ़िल्म की प्रशंसा करते हुए राहुल जी ने लिखा कि 'इतने दिनों बाद यह एक हिंदी फ़िल्म आई है, जिसकी तारीफ़ कर सकते हैं। वार्तालाप कमाल का है, कौरवी उच्चारण लाने की कोशिश की गई है, उसमें सफलता मिली है। कथानक भी सुसंबद्ध है, गहराई है, अभिनय में जो कुछ है, ध्वनि उससे दूर तक जाती है।'[43] उन्होंने फ़िल्म की नायिका दुर्गा खोटे के अभिनय की भी मुक्तकंठ से प्रशंसा की। उल्लेखनीय है कि वर्ष 1931 में बनी फ़िल्म *फ़रेबी जाल* से अपने अभिनय कॅरियर की शुरुआत करने वाली अभिनेत्री दुर्गा खोटे (1905-1991) ने *जीवन नाटक*, *इंकलाब*, *अमर ज्योति*, *पृथ्वी वल्लभ*, *तस्वीर*, *मुसाफ़िर*, *राज तिलक* और *मुग़ल-ए-आज़म* सरीखी फ़िल्मों में अभिनय किया था। समाज-सुधारक अवंतिकाबाई गोखले के विचारों से प्रभावित दुर्गा खोटे भारतीय जन नाट्य मंच (इप्टा) से भी जुड़ी रहीं। फ़िल्म *ज़मीन* में दर्शाए गए किसानों के बर्ताव को भी राहुल जी ने गंभीर और स्वाभाविक माना। फ़िल्म की कुछ सीमाओं के विषय में राहुल जी ने लिखा 'चीरहरण की जगह कोई दूसरी ग्रामीण मनोरंजन की चीज़ ला सकते थे। गाने अच्छे नहीं। फ़ोटोग्राफ़ी भी दोषपूर्ण। योगी के अनुकूल भेष नहीं।'

रूस में रहते हुए राहुल जी को रूसी फ़िल्मों के हिंदी भाषांतर का काम भी सौंपा गया, लेकिन साहित्यिक कार्यों में व्यस्तता के कारण राहुल जी ने इस कार्य को पूरा करने में अपनी असमर्थता जताई थी। इस संदर्भ में वे लिखते हैं '15 अप्रैल, 1947 को एक और भी काम हमारे पास आया। वह था रूसी फ़िल्मों का हिंदी भाषांतर करना। *शपथ* फ़िल्म के सिनारियो को हमारे पास रूसी से हिंदी में तर्जुमा करने के लिए भेजा गया था। इसमें जितना अभिनय था, उतना वार्तालाप नहीं था। कुल 74 पृष्ठ की सामग्री रही होगी। फ़िल्म-विभाग ने इसके अनुवाद के लिए साढ़े चार हज़ार रूबल पारिश्रमिक देने के लिए लिखा था। खैर रूबल बुरे तो नहीं थे, किंतु मुझे उनकी उतनी परवाह नहीं थी।'[44]

---

[41] *रिपोर्ट ऑफ़ द इंडियन सिनेमेटोग्राफ़ कमिटी*, 1927-1928 : 40, 84.

[42] हरनाम सिंह ने अपने सिनेमाई कॅरियर की शुरुआत कोलकाता में निर्देशक केदार शर्मा के सहायक के रूप में की थी. उनके द्वारा निर्देशित कुछ अन्य फ़िल्में हैं : *ज़िद* (1945), *झूठी कसमें* (1948), *दो बातें* (1949), *पॉकेटमार* (1956), आदि. आशीष राजाध्यक्ष व पॉल विल्लमन : 198.

[43] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 2 : 465.

[44] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 3 : 182.

राहुल सांकृत्यायन अगस्त 1947 में सोवियत रूस से भारत वापस लौटे। इसी दौरान वे बंबई में आयोजित हुए हिंदी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के सभापति भी रहे। फ़रवरी 1948 में राहुल सांकृत्यायन ने उदयशंकर की कलात्मक फ़िल्म *कल्पना* लखनऊ में देखी। उल्लेखनीय है कि *कल्पना* प्रसिद्ध भारतीय नर्तक और नृत्य-निर्देशक उदय शंकर (1900-1977) द्वारा निर्मित एकमात्र फ़िल्म है। इस फ़िल्म में उदय शंकर की पत्नी अमला शंकर मुख्य भूमिका में थीं।[45] आज़ादी के ठीक एक साल बाद बनी *कल्पना* जहाँ एक प्रतिभाशाली कलाकार उदयन के जीवन-संघर्षों और 'कला-केंद्र' स्थापित करने की दिशा में उसके प्रयासों को दर्शाती है वहीं उदय शंकर की यह फ़िल्म नृत्य और संगीत के ज़रिए भारत की एकता और विविधता की संकल्पना को भी कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करती है। फ़िल्म के आरंभ में दिए विवरण में बताया जाता है कि यह फ़िल्म एक फंतासी है, जिसमें भारत के धर्म, राजनीति, शिक्षा, समाज, कला, संस्कृति, कृषि, उद्योग आदि के विभिन्न पहलुओं को दर्शाया गया है। इस क्रम में, उदय शंकर *कल्पना* के माध्यम से पतनशील सामंती वर्ग, राजे-रजवाड़ों के दकियानूसीपन और उनके आडंबरों का मखौल भी उड़ाते हैं।

साथ ही, उदय शंकर *कल्पना* के द्वारा फ़िल्म उद्योग और निर्माताओं की मनमानी पर भी सवालिया निशान खड़े करते हैं, जब वे एक लेखक को एक फ़िल्म स्टूडियो के मालिक को अपनी कहानी सुनने का हताशा से भरा हुआ आग्रह करते हुए दिखाते हैं। इस दृश्य में 'थंडरस्ट्रक फ़िल्म स्टूडियो' का मालिक जिस कमरे में बैठा होता है, वहीं एक तख़्ती भी टँगी होती है, जिस पर लिखा होता है, 'बॉक्स ऑफ़िस ही हमारा भगवान है' (बॉक्स ऑफ़िस इज़ अवर गॉड)। अंत में, फ़िल्म की पटकथा को सुनकर निर्माता उस प्रस्ताव को ठुकराते हुए लेखक से कहता है कि 'प्यार नहीं, चुम्मा-चाटी नहीं आशिक़ माशूक़ा नहीं, ऐसी पिक्चर बनाकर क्या मुझे कंगाल होना है?' निर्माता की इस टिप्पणी से खिन्न लेखक जवाब में कहता है कि 'वह दिन दूर नहीं है जब हम लोग तुम्हारी चंगुल से बाहर निकलेंगे। अपनी बेईमानी और स्वार्थ से तुमने जो देश का नुक़सान किया है उसका नतीजा अब जल्दी ही भुगतना पड़ेगा।' स्टूडियो मालिक के आदेशानुसार लेखक को स्टूडियो से बाहर निकालते हुए स्टूडियो का दरबान उससे कहता है, 'नाराज़ न हो भैया! अगर इतनी हिम्मत थी तो दस-बीस लाख ख़र्च करके अपना स्टूडियो बनाकर मनचाही तस्वीर निकालते। यहाँ नाक रगड़ते हुए नहीं आते, समझे!' स्पष्ट है कि उदय शंकर ने फ़िल्म उद्योग में निर्माताओं-निवेशकों की मनमानी, लेखकों की उपेक्षा और उनके शोषण पर तल्ख़ टिप्पणी की थी। यह भी दिलचस्प है कि ख़ुद *कल्पना* का निर्माण भी जेमिनी स्टूडियो में हुआ था।

कल्पना और उस जैसी दूसरी समकालीन फ़िल्मों को देखते हुए यह बात साफ़ हो जाती है कि बीसवीं सदी में पचास के दशक में फ़िल्मों और यथार्थवादी सौंदर्यदृष्टि का इस्तेमाल राष्ट्रीय अस्मिता को गढ़ने में भी हुआ। फ़िल्म अध्येता सुमिता चक्रवर्ती लिखती हैं कि फ़िल्मों

[45] इस अतियथार्थवादी (सुर्रियल) फ़ंतासी के निर्माण में उदय शंकर को चार साल लगे थे. फ़िल्म के संवाद लिखे थे मशहूर उपन्यासकार अमृतलाल नागर ने और गीत लिखे थे छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत ने.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 192

में यथार्थवाद का चित्रण धीरे-धीरे एक मूल्य और फ़िल्म-निर्माता की प्रतिबद्धता की कसौटी बनता चला गया। फ़िल्म के यही गुण उस नवस्वाधीन राष्ट्र के लिए आशा की किरण साबित हुए, जो खंडित अस्मिता की चुनौतियों से जूझ रहा था। इस तरह सिनेमा एक ऐसे माध्यम के रूप में तब्दील हो गया, जिसमें वह शक्ति निहित थी जो प्रतीकात्मक रूप से भारत को उसकी अपनी छवि से रूबरू करा सकने में समर्थ थी। उल्लेखनीय है कि यथार्थवाद यहाँ सिनेमाई प्रस्तुति की एक रणनीति के रूप में काम कर रहा था, जिसके ज़रिए 'राष्ट्रीय अस्मिता' को पारिभाषित करने के प्रयास भी हो रहे थे।[46]

यथार्थवाद की यह धारणा कोई अपरिवर्तनशील धारणा नहीं थी। बीसवीं सदी के दूसरे, तीसरे और चौथे दशक में इस धारणा में लगातार बदलाव हो रहे थे और इसमें सामाजिक बदलाव को लेकर दुचित्तेपन का भाव भी शामिल था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद फ़िल्म उद्योग में कई महत्त्वपूर्ण बदलाव हुए। मसलन, स्टूडियो प्रणाली का पतन, फ़िल्म उद्योग में काले धन का निवेश, नायक-नायिकाओं की लोकप्रियता को भुनाने वाली फ़ॉर्मूला फ़िल्मों का चलन और दर्शक वर्ग में बदलाव। सुमिता चक्रवर्ती उस 'नैतिक और वित्तीय संकट' की ओर भी इशारा करती हैं, जिससे भारतीय फ़िल्म उद्योग गुज़र रहा था। व्ही. शांताराम सरीखे निर्देशक इस दौर में आह्वान कर रहे थे कि विदेशी फ़िल्मों की नक़ल करने की बजाए हमें ऐसी फ़िल्में बनानी चाहिए, जो वर्तमान का आईना हों और जिन्हें एक सामाजिक औज़ार के रूप में आम लोगों के मनोरंजन और शिक्षण के लिए इस्तेमाल किया जा सके।[47]

यद्यपि राहुल सांकृत्यायन उदयशंकर की कलात्मकता और उनकी कला-दृष्टि के प्रशंसक थे, लेकिन *कल्पना* फ़िल्म ने उन्हें निराश किया। फ़िल्म *कल्पना* पर उनकी टिप्पणी है, 'सर्वज्ञता के भ्रम ने इसे समाप्त कर दिया। उदयशंकर ने कलाकार उदयन को फ़िल्म की कथा का आधार बनाया, और कलाकार के लंबे जीवन को छोटी-छोटी झाँकियों से चित्रित करना चाहा। वह झाँकी इतनी कम थी कि जब तक उससे आदमी कुछ निष्कर्ष निकाले, उससे पहले ही वह ख़त्म हो जाती। फ़िल्म साधारण जनता के लिए तो लिखी ही नहीं गई थी, यदि मेरे जैसे दर्शक भी उसे नहीं पसंद कर पाए, तो उसकी असफलता निश्चित थी। यदि उन्होंने नवीन उदयन कथा के मोह को छोड़ नृत्य तथा संगीत की छोटी-छोटी भूमिकाओं को पेश किया होता, तो ज़रूर जनप्रिय होता और आर्थिक दृष्टि से भी बहुत सफल रहता।'[48]

राज कपूर की चर्चित फ़िल्म *आवारा* वर्ष 1951 में प्रदर्शित हुई। *आवारा* की पटकथा लिखी थी ख़्वाजा अहमद अब्बास ने और इसके प्रमुख कलाकारों में राजकपूर के अलावा पृथ्वीराज कपूर, नरगिस, के.एन. सिंह और लीला चिटणीस थे। फ़िल्म का संगीत दिया था शंकर-जयकिशन की प्रसिद्ध संगीतकार जोड़ी ने और गीत लिखे थे शैलेंद्र और हसरत जयपुरी ने। अगले साल जून

---

[46] सुमिता एस. चक्रवर्ती (1989) : 31-48.

[47] वही : 36.

[48] वही : 275.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 193

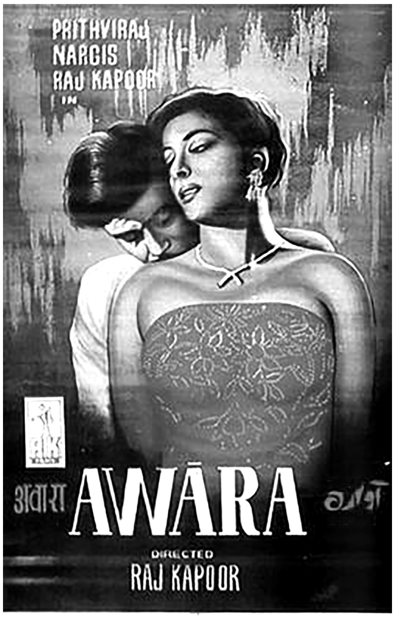

के महीने में राहुल जी ने यह फ़िल्म मसूरी में देखी और इसकी सराहना करते हुए उन्होंने लिखा कि ‘अभी ‘आवारा’ की ख्याति विदेशों में नहीं हुई थी, तो भी अब तक देखी भारतीय फ़िल्मों में अच्छी है, इसमें संदेह नहीं। सब दृष्टि से अच्छा कहना पड़ेगा।’[49] राहुल जी ने यह भी जोड़ा कि अधिकतर हिंदुस्तानी फ़िल्मों ने उन्हें निराश ही किया है, लेकिन *आवारा* देखकर उन्हें संतोष हुआ।

फ़िल्म *आवारा* सोवियत रूस और चीन में भी वर्ष 1954-55 में प्रदर्शित की गई, जहाँ इसे अपार लोकप्रियता हासिल हुई थी। उल्लेखनीय है कि बीसवीं सदी के पाँचवें दशक में विशेषकर स्तालिन की मृत्यु के बाद हिंदुस्तानी फ़िल्मों, ‘आवारा हूँ’ जैसे गीतों और राजकपूर सरीखे चर्चित भारतीय अदाकारों ने सोवियत रूस के आम लोगों के मन में अपनी ख़ास जगह बनाई थी। वैसे तो स्तालिन के दौर में भी वर्ष 1949 में *धरती के लाल* और उसके दो साल बाद *छिन्नमूल* जैसी फ़िल्मों का प्रदर्शन सोवियत रूस में हुआ था। लेकिन सोवियत रूस में बड़े पैमाने पर भारतीय फ़िल्मों का प्रदर्शन मार्च 1953 में स्तालिन की मृत्यु के बाद ही हुआ। इसी क्रम में, सितंबर 1954 में सोवियत रूस में पहला भारतीय फ़िल्म समारोह आयोजित किया गया जिसमें *आवारा* , *दो बीघा ज़मीन*, *आँधियाँ* और *राही* सरीखी फ़िल्में दिखाई गईं। साथ ही, इस समारोह में राज कपूर, देव आनंद, नर्गिस, ख़्वाज़ा अहमद अब्बास, निरूपा रॉय जैसे अदाकारों ने भी हिस्सा लिया। भारतीय फ़िल्मों की अध्येता सुधा राजगोपालन ने अपनी पुस्तक में सोवियत रूस में बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारतीय फ़िल्मों की लोकप्रियता की इस परिघटना का ऐतिहासिक विश्लेषण किया है।[50]

राज कपूर के सिनेमाई विज़न के बारे में इतिहासकार पार्थ चटर्जी लिखते हैं कि ‘नेहरू की राजनीति की तरह ही राज कपूर का सिनेमा भी यूटोपियाई समाजवाद की अवधारणा से गहरे प्रभावित था।’ राज कपूर की फ़िल्मों की व्यावसायिक सफलता के पीछे शंकर-जयकिशन के संगीत की भी अहम भूमिका थी। पार्थ चटर्जी बताते हैं कि शंकर-जयकिशन ने हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के साथ ही रूसी लोकधुनों को भी राज कपूर की फ़िल्मों में स्वरबद्ध किया था। शायद सोवियत रूस में राज कपूर की फ़िल्मों और विशेषकर उसके संगीत की अपार लोकप्रियता के पीछे भी इसकी अहम भूमिका रही हो ।[51]

---

[49] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 4 : 84.

[50] सुधा राजगोपालन (2008).

[51] पार्थ चटर्जी (2012).

जनवरी 1955 में जब राहुल सांकृत्यायन राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के आमंत्रण पर व्याख्यान देने के लिए बंबई गए, तभी उनकी मुलाक़ात फ़िल्म जगत में सक्रिय हिंदी लेखक सुदर्शन और प्रदीप से हुई।[52] उनकी यह मुलाक़ात चर्चगेट पर हुई थी, जहाँ राहुल जी हिंदी विद्यार्थी मंडल द्वारा बुलाई गई एक बैठक में शामिल हुए थे। हिंदी के लेखक फ़िल्म जगत में क्यों नहीं जम सके, इसके बारे में राहुल जी कवि प्रदीप की इस राय से सहमत थे कि हिंदी के वे लेखक फ़िल्मों में पंत और प्रसाद की भाषा लाना चाहते थे, जोकि संभव नहीं था क्योंकि वह भाषा आम लोगों की समझ से परे थी। राहुल जी के अनुसार, 'फ़िल्म में एक के नहीं, बल्कि लाखों के खीसों पर हाथ रखना है। गीत की भाषा ऐसी होनी चाहिए जिसे समझने में लोगों को अधिक कठिनाई न हो। मैं पंत-प्रसाद की भाषा और उनकी कविता का प्रशंसक हूँ। ख़ासकर प्रसाद जी को तो भारत के सर्वोच्च कवियों में मानता हूँ। पर जनसाधारण के लिए बच्चन की ही भाषा सबसे अच्छी है और वही इस विषय में सबसे बड़े कवि माने जा सकते हैं। उर्दू कविताओं में भी बहुत से शब्द सुनने वालों के पल्ले नहीं पड़ते, पर चलती भाषा, चलते उर्दू के छंद और उसके साथ सिनेमा के धनी-धोरियों की धींगामुश्ती, सब मिलकर काम बन जाता है।'[53]

अंततः

प्रेमचंद और राहुल सांकृत्यायन दोनों ने ही सिनेमा को एक प्रभावशाली और सशक्त माध्यम के रूप में देखा। प्रेमचंद सिनेमा को समाजोपयोगी और शिक्षाप्रद बनाने के पक्षधर थे, जिससे कि आम लोगों के बीच जागरूकता फैल सके। प्रेमचंद सिनेमा की व्यापक पहुँच और उसके विस्तार से भी अवगत थे। इसलिए उन्होंने मनोरंजन के मूल्यों को सुधारवादी नज़रिए से देखने की कोशिश की और अश्लीलता, हिंसा को बढ़ावा देने वाले सिनेमा का पुरज़ोर विरोध किया। वे साहित्य की पहुँच की सीमा से भी वाकिफ़ थे, इसीलिए वे सिनेमा को अपने विचारों का माध्यम बनाने और उसके ज़रिए आम लोगों तक अपनी बात पहुँचाने की चाहत रखते थे।

प्रेमचंद बंबई फ़िल्म उद्योग के निर्माता-निर्देशकों से असंतुष्ट थे। उनका मानना था कि फ़िल्म निर्माताओं का पूरा ज़ोर जनता की कुत्सित भावनाओं को बढ़ावा देकर ज़्यादा-से-ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने पर होता है। जिसकी वजह से सिनेमा की उपयोगिता नष्ट हो जाती है। लेकिन इसी क्रम में प्रेमचंद ने सिनेमा की अभिनेत्रियों के जीवन को 'घृणित और लज्जास्पद' भी बताया, जोकि प्रेमचंद के मन में सिनेमा की अभिनेत्रियों के प्रति बैठे पूर्वाग्रह की झलक तो देता ही है साथ ही अभिनेत्रियों के प्रति तत्कालीन समाज के रवैये की बानगी भी देता है। नरोत्तम नागर ने प्रेमचंद के सिनेमा संबंधी ऐसे विचारों का उचित ही प्रतिवाद किया था। अपनी सीमाओं के बावजूद प्रेमचंद के ये पत्र, उनके सिनेमा संबंधी लेख बंबई फ़िल्म जगत पर निर्माता-निर्देशकों

---

[52] जहाँ कहानीकार सुदर्शन प्रेमचंद के समय में ही बंबई फ़िल्म उद्योग से जुड़े थे. वहीं प्रसिद्ध गीतकार प्रदीप (1915-1998) ने 1939 में बनी *कंगन* से लेकर *नया संसार, झूला, मशाल, पैग़ाम* जैसी फ़िल्मों के गीत लिखे थे.

[53] राहुल सांकृत्यायन (2002), खंड 4 : 200.

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 195

के प्रभुत्व, स्टूडियो प्रणाली के व्यापक प्रभाव के साथ-साथ फ़िल्मों के आर्थिक पक्ष और सेंसरशिप जैसे पहलुओं से भी हमें वाकिफ़ कराते हैं। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में दर्शक वर्ग, पूँजी और राज्य, तीनों ही अपनी सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

राहुल सांकृत्यायन की फ़िल्म संबंधी टिप्पणियाँ हमें उनकी फ़िल्म संबंधी सोच, कला-दृष्टि से वाबस्ता तो कराती ही हैं साथ ही, ये टिप्पणियाँ हिंदी में एक विधा के रूप में फ़िल्म-समीक्षा के विकास-क्रम को समझने के सूत्र भी मुहैया कराती हैं। सोवियत फ़िल्मों के अनुभव ने राहुल जी की कला-दृष्टि को परिपक्व करते हुए उन्हें सिनेमा के सामाजिक-सांस्कृतिक-ऐतिहासिक आयामों से भी रूबरू कराया। संवाद, पटकथा, संवाद अदायगी, पात्रों के चयन और उनकी वेश-भूषा, फ़िल्म में प्राकृतिक दृश्यों के इस्तेमाल जैसी बारीकियों के प्रति भी राहुल जी सजग थे। फ़िल्मी गीतों की भाषा की सहजता और लोकप्रियता के अंतर्संबंधों को समझने के साथ ही उन्होंने हिंदी के प्रचार-प्रसार में हिंदुस्तानी सिनेमा के योगदान को भी स्वीकार किया।

अभिनय, कथानक, संगीत, फ़िल्मांकन और तकनीक जैसे सिनेमा के महत्त्वपूर्ण अवयवों के साथ-साथ राहुल जी ने ऐतिहासिकता, कालदोष, विषयवस्तु और प्रस्तुति जैसे पक्षों का भी मूल्यांकन किया। इन्हीं कसौटियों पर भारतीय और सोवियत सिनेमा की तुलना करते हुए उन्हें सोवियत फ़िल्में भारत ही नहीं विश्व सिनेमा में भी अग्रणी जान पड़ीं। कहना न होगा कि राहुल सांकृत्यायन की फ़िल्म संबंधी ये अंतर्दृष्टिपूर्ण टिप्पणियाँ और समीक्षाएँ हिंदी फ़िल्म अध्ययन के विकास-क्रम को समझने हेतु अपरिहार्य स्रोत हैं।

स्पष्ट है कि सिनेमा और साहित्य के विश्लेषण के ज़रिए हम उस जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया को समझ सकते हैं, जिसके अंतर्गत बीसवीं सदी के मध्य में इन दोनों इदारों में भारत की 'राष्ट्रीय अस्मिता' गढ़ी जा रही थी। पिछले कुछेक दशकों में इतिहासकारों ने सिनेमा और साहित्य को न सिर्फ़ इतिहास के महत्त्वपूर्ण स्रोत के रूप में इस्तेमाल किया है, बल्कि इससे भी आगे जाकर साहित्य और सिनेमा को बतौर इतिहास देखने-समझने की शुरुआत की है। सामाजिक इतिहास से प्राप्त होने वाले विश्लेषण के औज़ारों के ज़रिए फ़िल्म, साहित्य और समाज के अंतर्गुंफित संबंधों का अध्ययन अतीत की एक समृद्ध तस्वीर प्रस्तुत करता है, जिसमें जेंडर, समुदाय, जाति और राष्ट्र की विविध छवियाँ और विरोधाभासी आवाज़ें भी समाहित होती हैं। कहना न होगा कि प्रेमचंद और राहुल सांकृत्यायन का सिनेमा संबंधी लेखन इस ऐतिहासिक यथार्थ की बानगी देता है।

07Shubneet_Layout 1 22-02-2024 15:30 Page 196

संदर्भ

अनिरुद्ध देशपांडे (2004), 'फ़िल्म्स ऐज़ हिस्टॉरिकल सोर्सेज़ ऑर आल्टरनेटिव हिस्ट्री', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 4455-4459.

आशा कसबेकर (2001), 'हिडेन प्लेज़र्स : निगोशियेटिंग द मिथ ऑफ़ द फ़ीमेल आइडियल इन पॉपुलर हिंदी सिनेमा', रेचेल डॉयर व क्रिस्टोफ़र पिन्नी (सं.), *प्लेज़र ऐंड द नेशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली : 286-308.

आशीष राजाध्यक्ष और पॉल विल्लेमन (1998), *इसाइक्लोपीडिया ऑफ़ इंडियन सिनेमा*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

इरा भास्कर (2019), 'डिज़ायर, डेविएंसी ऐंड डिफ़ाएंस इन बॉम्बे सिनेमा (1930-1950)', शाश्वती सेनगुप्ता व अन्य (सं.), *'बैड' वीमेन ऑफ़ बॉम्बे फ़िल्म्स*, पालग्रेव मैकमिलन, स्विट्ज़रलैंड : 27-44.

एमा विडिस (2003), *विज़न्स ऑफ़ ए न्यू लैंड : सोवियत फ़िल्म फ़्रॉम द रिवोल्यूशन टू द सेकंड वर्ल्ड वॉर*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैवन.

कौशिक भौमिक (2001), 'द इमरजेंस ऑफ़ द बॉम्बे फ़िल्म इंडस्ट्री, 1913-1936', अप्रकाशित डी. फ़िल. ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी.

जवाहरलाल नेहरू (1949 [1929]), *सोवियत रसिया : सम रैंडम स्केचेज़ ऐंड इंप्रेशन्स,* चेतन, बंबई.

ज्योतिका विर्दी (2003), द *सिनेमैटिक इमैजिनेशन : इंडियन पॉपुलर फ़िल्म्स ऐज़ सोशल हिस्ट्री*, रूटजर्स युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

प्रेमचंद (1996), *प्रेमचंद रचनावली*, खंड 20, जाबिर हुसेन (प्रधान सं.), जनवाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

पार्थ चटर्जी (2012), 'इंडियन सिनेमा : देन ऐंड नाऊ', *इंडिया इंटरनैशनल सेंटर क्वॉर्टर्ली*, भाग 39 (2) : 45-53.

मदन गोपाल (1964), *मुंशी प्रेमचंद : ए लिटरेरी बायोग्राफ़ी*, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई.

मार्क फेरो (1983), 'फ़िल्म ऐज़ ऐन एजेंट, प्रोडक्ट ऐंड सोर्स ऑफ़ हिस्ट्री', *जर्नल ऑफ़ कंटेंपररी हिस्ट्री,* खंड 18, 357-364.

रविकान्त (2016), *मीडिया की भाषा-लीला*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

राजनारायण चंदावरकर (1994), द *ओरिज़िंस ऑफ़ इंडस्ट्रियल कैपिटलिज़म इन इंडिया : बिजनेस स्ट्रेटजीज़ ऐंड द वर्किंग क्लासेज़ इन बॉम्बे, 1900-1940*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

राहुल सांकृत्यायन (2002), *मेरी जीवन-यात्रा*, खंड 4, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली.

रिपोर्ट ऑफ़ द इंडियन सिनेमेटोग्राफ़ कमिटी, 1927-1928 (1928), गवर्नमेंट प्रेस, मद्रास.

रेचेल डॉयर (2006), *फ़िल्मिंग द गॉड्स : रिलीजन ऐंड इंडियन सिनेमा*, रटलेज, न्यू यॉर्क.

शिवरानी देवी (1944), *प्रेमचंद : घर में*, सरस्वती प्रेस, बनारस.

सुधा राजगोपालन (2008), *इंडियन फ़िल्म्स इन सोवियत सिनेमाज़ : द कल्चर ऑफ़ मूवी गोइंग आफ़्टर स्टालिन,* इंडियाना युनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन.

सुमिता एस. चक्रवर्ती (1989), 'नैशनल आइडेंटिटी ऐंड द रियलिस्ट एस्थेटिक : इंडियन सिनेमा ऑफ़ द फिफ़्टीज़', *क्वाटर्ली रिव्यू ऑफ़ फ़िल्म ऐंड वीडियो*, 11 : 31-48, 275.